सुर्या नमक
आपकी अच्छी सेहत और लम्बे जीवन के लिए

सूची

१. माता कस्तूर बा ... ५
२. श्रीमती सरोजिनी नायडू ... १३
३. श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित ... २१
४. श्रीमती अमृत शेरगिल ... २६
५. श्रीमती महादेवी वर्मा ... ३७
६. श्रीमती राजकुमारी अमृतकौर ... ४५
७. श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय ... ५१
८. रेडन एडजंग कार्तिनी ... ५६
९. श्रीमती एलीनर रूज़वेल्ट ... ६७
१०. कुमारी हेलन केलर ... ७५
११. श्रीमती पर्ल एस० बक ... ८३
१२. डॉक्टर एनी बेसेण्ट ... ९५
१३. मैडेम क्यूरी ... १०३
१४. मैडेम मांटेसरी ... ११५
१५. मैडेम च्यॉग-काई शेक ... १२३
१६. मैडेम सन-यात-सेन ... १३१
१७. केथरीन ब्रेश्कोवस्की ... १३६
१८. ज़ोया कोस्मोदेमिन्स्क्या ... १५१
१९. जेन एडम्स ... १६५
२०. इवेंजलीन बूथ ... १७६
२१. लेडी माउण्टबेटन ... १८६
२२. खालिदा अदीब खानम ... १९७

हिमालय की भाँति अडिग हैं। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में इस महान् नारी का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। निःसन्देह, ये स्वाधीनता की मूर्त्तिमान प्रतिमा हैं।

विश्व की महान् महिलाएँ

(विश्व की प्रतिनिधि नारियों के सचित्र रेखा-चित्र)

लेखिका

शचीरानी गुर्टू एम० ए०

कठोरतम साधना के दिन थे। कभी-कभी हमें विदेशी समझ कर सर्वथा वहिष्कृत कर दिया जाता था और कोई भी हम से किसी प्रकार का सम्पर्क रखना पसन्द न करता था, किन्तु मेरा जीवन तो सदैव चीनियों में ही बीता था, अतएव मैं उनमें शीघ्र ही घुलमिल गई और उनके जीवन की बहुत सी अंतरंग बातों तक से परिचित हो गई। विवाहित होने के कारण मुझे उनमें बैठने, बोलने, अपनी और उनकी बातें कहने-सुनने की अधिक स्वतन्त्रता थी। चीनी-स्त्रियाँ मुझसे इस प्रकार निर्भीक होकर बातें करतीं जैसे कोई स्त्री स्त्री से अथवा सखी अपनी घनिष्ठ सखी से करती हैं। इन वर्षों में जो मुझे कई चीनी स्त्रियों से स्थायी मैत्री का सुअवसर मिला, वह आज तक भी अक्षुण्ण है और मेरे जीवन का अविभाज्य अंग बन गया है।

"थोड़े दिन बाद ही हम नानकिंग चले आये। वहाँ का वातावरण नितान्त भिन्न था। ऐसा लगता था मानों हमने किसी दूसरे ही जीवन में प्रवेश किया हो।"

पर्ल बक को सदैव भान होता रहा कि जीवन में किसी दिन वे अवश्य लिखेंगी, किन्तु उन्हें अभी अवकाश न था। कुछ वर्षों तक वे घर के कामों, बच्चों के पालन-पोषण और अपने माता-पिता की बीमारी में बहुत व्यस्त रहीं। दक्षिणी-उत्तरी चीन में नानकिंग यूनिवर्सिटी और बाद में चुङ्गयाँग यूनिवर्सिटी में भी वे कुछ वर्षों तक अंग्रेज़ी की प्रोफेसर रहीं। सन् १९२२ में इन्होंने अपना सबसे पहल लेख "एटलांटिक" मासिक-पत्र में छपने के लिए भेजा जो तुरन्त ह स्वीकार कर लिया गया और 'इन चाइना, टू' (In China, to शीर्षक से जनवरी के अंक में प्रकाशित हुआ। इस लेख को पढ़ क एक दूसरे पत्र के सम्पादक ने भी इन्हें लेख भेजने का आग्रह कि और इस प्रकार सभी पत्रों में इनके लेख छपने लगे। इनके लेखों कल्पित, रंगीन वातावरण नहीं, वरन् चीनी-जीवन के यथार्थ, मो चित्र बिखरे हुए होते थे, जिनमें नित्यप्रति के जीवन की झलक मि थी। ८ अक्टूबर, सन् १९२४ में अमेरिका के एक प्रमुख मासि नेशन' में इनका एक लेख 'चीनी विद्यार्थियों का मस्तिष्क' Chinese Student-Mind) शीर्षक से प्रकाशित हुआ, इन्होंने लिखा था—

निवेदन

नारी दीन-हीन अथवा अबला नहीं, वह नारीत्व की कोमलता एवं प्रकाश से पूर्ण है। किसी भी देश अथवा राष्ट्र की सुदृढ़ नींव नारी की चरमोन्नति की द्योतक है। नारी, जिसने सदैव देना ही देना सीखा है, रात हो या दिन, अन्धकार हो या प्रकाश, दुर्दिन हो या सुदिन, अपने स्नेह-राग से प्राणों की बत्ती जलाए जीवन के कण्टकाकीर्ण-पथ को आलोकित करती रही है।

आज के प्रगतिशील युग में स्त्रियाँ पुरुषों से समानता का नहीं, वरन् श्रेष्ठता का दावा कर रही हैं। विगत वर्षों में भारत की नारियों ने जो कार्यतत्परता और जागरूक चेतना का परिचय दिया है—वह अन्य देशों की नारियों से कम नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय-क्षेत्र में कार्य करने वाली भारतीय-महिलाएँ आज अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ अधिक ही मिलेंगी।

प्रस्तुत पुस्तक में विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय-ख्याति-प्राप्त प्रमुख नारियों के बाईस रेखा-चित्र हैं, जिनमें अधिकांश जीवित महिलाएँ हैं अथवा वे हैं जो इधर कुछ वर्षों में ही दिवंगत हुई हैं।

कुछ नारियाँ और भी शेष हैं, जिन्हें अगले संस्करण म देने का प्रयत्न किया जायगा।

शचीरानी गुर्टू

७।२३ दरियागंज, दिल्ली
वसंत पञ्चमी, २००७ सम्वत्

विश्व की महान् महिलाएँ

माता कस्तूर बा

जन्म तिथि : १८६६

जन्म स्थान : पोरवन्दर (काठियावाड़)

मृत्यु तिथि : २२ फरवरी, १६४४

मृत्यु स्थान : आगाखाँ महल, पूना

माता कस्तूर बा

माता कस्तूर बा के स्मरण मात्र से ही आदर्श नारीत्व का सजीव चित्र नेत्रों के समक्ष नाचने लगता है। निःसन्देह, वे त्याग, आत्म-बलिदान और सहिष्णुता की साक्षात् प्रतिमा थीं। उनका समस्त जीवन साधना और तपश्चर्या की कठोरतम अनुभूतियों से ओत-प्रोत था। वे आदर्श नारीत्व के उच्च स्तर पर पहुँच चुकी थीं।

बा और बापू का सम्मिलन ऐसा ही था जैसे पुरुषार्थ और साधना का; दोनों एक दूसरे के पूरक थे। दोनों ने परस्पर प्रेम, सहयोग और साहचर्य्य से आदर्श पति-पत्नी का दृष्टान्त उपस्थित किया था। बापू यदि कर्मनिष्ठ योगी थे तो बा उन्हें स्फूर्ति प्रदान करने वाली प्रेरक-शक्ति, बापू अनासक्त और त्यागी थे तो बा भी संयम और सहिष्णुता की मूर्त्तिमान् प्रतीक थीं, वे शरीर थीं तो बापू आत्मा।

वे निरंतर बापू के तपःपूत निर्बल प्राणों में प्रेम की वर्षा करके आनन्द-रस छलकाया करती थीं। एक आदर्श भारतीय-नारी की भाँति उन्होंने अपने जीवन का समस्त सुख, आनन्द, आकाँक्षाएँ, इच्छाएँ, वासनाएँ पति के चरणों में ही अर्पित कर दी थीं। उनका सबसे बड़ा विशिष्ट गुण यह था कि चाहे इच्छा हो या अनिच्छा, सुख हो या दुःख, हित हो या अहित; जो कुछ भी बापू कहते या करते थे उसी का अक्षरशः पालन करने में वे अपने जीवन की परम सार्थकता समझती थीं।

सन् १८६६ में बा का जन्म काठियावाड़ में स्थित पोरबन्दर नगर में हुआ था। उनके पिता गोकुलदास मकन जी एक प्रसिद्ध व्यापारी थे और माता का नाम व्रजकुँवरि था। दोनों ही कट्टर वैष्णव और धार्मिक विचारों के थे। यही कारण है कि माता-पिता के शुभ संकल्प, सद्गुण और आचार-विचार की अमिट छाप बा पर पड़ी थी।

बा का विवाह १३ वर्ष की आयु में ही गाँधी जी से हो गया था। वैवाहिक-जीवन में प्रवेश करते ही उन्होंने पति-सेवा का व्रत ले लिया था और यद्यपि वे एक दृढ़-प्रतिज्ञ, सत्यनिष्ठ, कर्मठ पुरुष की सह-धर्मिणी थीं, तथापि उनका अपना व्यक्तित्व इतना महान् और गरिमामय था कि बापू का एकपत्नी-व्रत सदैव अक्षुण्ण रहा। बा के अपूर्व प्रेम, साहचर्य, सेवा और मधुर सहयोग से बापू के तपस्वी जीवन में कभी शुष्कता और नीरसता आने ही नहीं पाई।

बापू प्रारंभ में बहुत ही जिद्दी और बा के प्रति कुछ कठोर थे। वे उनके पातिव्रत्य पालन पर बहुत ज़ोर देते थे, यहाँ तक कि एक दिन अपने मन के विरुद्ध कार्य करने पर वे बा को अपने घर से निकालने तक को तैयार हो गये थे। अपनी आत्मकथा में बापू एक स्थल पर लिखते हैं "अपने अत्याचारों और कठोर नियमों से जो दुःख मैंने अपनी पत्नी को दिया है, उसके लिये अपने आपको कभी क्षमा नहीं [illegible]र सकता।" विवाह के कई वर्ष बाद तक बापू की शिक्षा जारी रही [illegible]र उन्हें बैरिस्टरी पास करने के लिये विलायत भी जाना पड़ा। बा ने [illegible]के पढ़ने-लिखने में कभी भी किसी प्रकार की अड़चन नहीं डाली।

बापू के साथ जब उन्हें स्वयं दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा, तब तो उन्होंने अपने जीवन को और भी अधिक कठोर और संयमित बना लिया था। वे एक महान् सेनानी की अर्द्धांगिनी थीं। बापू जैसे दृढ़-व्रती तपस्वी के साथ रहना कोई हँसी-खेल न था। उनके साथ रह कर जीवन-संघर्ष की क्रूर चोटों को सहन करना पड़ता था, तूफानों और झंझावातों में भी अडिग, अविचलित रहना पड़ता था। बापू के चरण-चिह्नों का अनुसरण करना मामूली बात न थी, वरन् कृपाण की धारा पर चलने के सदृश था। बा कभी भी कर्तव्य-पथ से पीछे नहीं हटीं। उन्होंने पति की इच्छानुसार कार्य करना जीवन का चरम ध्येय बना लिया था। दक्षिण अफ्रीका में पति के आदेश से उन्हें बर्तन माँजने, कपड़े धोने और दूसरों की छोटी-छोटी सेवाएँ करने का भी कार्य करना पड़ा।

बा में स्वाभिमान होते हुए भी धैर्य एवं साहस था। दक्षिण अफ्रीका में स्मट्स सरकार ने जब बिना रजिस्ट्री विवाहों को अवैध घोषित कर दिया था और भारतीयों की विवाहित पत्नियों को रखेल करार कर दिया था कि जिससे उनकी सम्पत्ति पर सुगमता से अधिकार हो सके तो उस समय गान्धी जी के नेतृत्व में एक भीषण आन्दोलन हुआ था। गान्धीजी के साथ ही साथ बा ने भी उस आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया था। वे घूम-घूम कर स्त्रियों में शक्ति और स्फूर्ति का उद्रेक करती थीं। परिणाम-स्वरूप उन्हें भी जेल जाना पड़ा और वे इस अग्नि-परीक्षा में खरी उतरीं। एक बार जब वे अत्यन्त रुग्ण हो गईं तो वहाँ के डाक्टरों ने उन्हें माँस का झोल लेना बताया, किन्तु बा ने भगवान् के भरोसे पर अत्यन्त दृढ़तापूर्वक इसे लेना अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका में उनके वैवाहिक जीवन का एक अध्याय अत्यन्त सफलतापूर्वक बीता।

गान्धीजी के भारत लौटने पर बा सुख-दुःख, आशा-निराशा सभी विकट से विकट परिस्थितियों में भी गान्धीजी के साथ रहीं। एक स्थल पर बापू लिखते हैं, "हम दो भिन्न व्यक्ति नहीं रह गये। मेरी वैसी कोई इच्छा नहीं थी तो भी उन्होंने मुझमें लीन होना

पसन्द किया। फलतः वे सचमुच ही मेरी अर्द्धांगिनी बनीं। वे हमेशा से बहुत दृढ़ इच्छा-शक्ति वाली थीं, लेकिन अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति के कारण वे अनजाने ही अहिंसक असहयोग की कला के आचरण से मेरी गुरु बन गईं।" सन् १९०६ में जब बापू ने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था तो बा ने एक सती और साध्वी पत्नी की भांति सभी वासनाओं का परित्याग करके बापू के आध्यात्मिक और नैतिक स्तर को ऊपर उठाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। बा ने कभी भी किसी कार्य के लिये बापू को नहीं रोका, वरन् उन्होंने सदैव उनकी प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता समझी। उन्होंने अपनी बहुत सी इच्छाओं का दमन करके बापू के आदर्श अपनाये और उन्हीं की अनुगामिनी बनीं। चम्पारन सत्याग्रह के समय बापू ने देहातों की सफाई और ग्रामीणों को धैर्य बँधाने का कार्य बा को सौंपा था। वे गांव-गांव, घर-घर में घूम कर अशिक्षित और निर्धन नर-नारियों को स्वच्छ रहने की उपयोगिता बताती थीं और स्वयं भी जो कुछ शरीर से बन पड़ता था सेवा-कार्य करती थीं। सन् १९२१ में सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन छिड़ने पर वे भारतीय महिलाओं की अगुआ बनीं और बारदोली सत्याग्रह में बापू के जेल चले जाने पर उन्होंने दीन-हीन निराश्रित कृषकों को धैर्य बंधाया।

बा का जीवन अत्यन्त सादा और संयमित था। उनकी अपनी कुछ इच्छा तो रह ही नहीं गई थी। उनका सारा समय बापू की सेवा में ही लगता था। प्रातःकाल चार बजे उठ कर वे बापू के साथ प्रार्थना करतीं। तत्पश्चात् वे बापू के स्नान के लिये गर्म पानी और जलपान का प्रबन्ध करतीं। बापू के खाने-पीने की चीजें वे स्वयं ले जातीं और जब तक वे उन्हें खा नहीं लेते तब तक वे उन्हीं के पास बैठतीं। बापू जब भ्रमण के लिये जाते तो वे एक घंटे रामायण और गीता का पाठ करतीं। उन्हें रामायण से अत्यधिक प्रेम था। वे यदा-कदा उसकी चौपाइयां भी गाती थीं। स्वच्छता का बापू को बहुत अधिक ध्यान रहता था। बापू के लिये वे स्वयं ही भोजन [illegible]ती थीं।

भोजन कर लेने के पश्चात् जब बापू विश्राम करते तो वे उनके

तलवों पर घी की मालिश करतीं और घंटों तक उनका शरीर दबाती रहतीं। घर की समस्त व्यवस्था और बापू की सेवा समाप्त कर लेने के पश्चात् वे अख़बार पढ़तीं और सूत कातती थीं।

बापू के उपवास के दिनों में वे उनकी निरंतर सेवा में संलग्न रहतीं और शक्ति बनाये रखने के लिये दिन में केवल एक बार भोजन करतीं। जीवन और मृत्यु के भीषण क्षणों में पति की सेवा में अहर्निश निरत बा की इन्द्रियां अधिक परिश्रम करतीं और उनके साथ ही साथ उपवास रखती थीं। निःसन्देह, उनकी कठोर तपस्या बापू के उपवास से कहीं अधिक महत्वपूर्ण होती थी।

सेवाग्राम और साबरमती के आश्रम में तो बा को साक्षात् देवी समझा जाता था। उन्होंने अपने प्रेम और सेवा से सभी के दिलों को जीत लिया था। आश्रम की बहिनें जो बापू से अपने दुःख-सुख कहने में संकोच करती थीं, वे अनायास ही बा की सहानुभूति प्राप्त करतीं और अपनी कठिनाइयाँ उनके समक्ष रखतीं। बा के निश्छल हृदय में प्रेम की उन्मुक्त धारा प्रवाहित होती रहती थी। कर्नल लिडनहार्ट ने एक स्थल पर लिखा है, "भारत जाने पर हमें श्वेत खादी वस्त्र में परिवेष्ठित इससे अधिक दर्शनीय वस्तु न मिलेगी जो प्रथम कोटि की गृहिणी के रूप में सेवाग्राम में निवास करती है और आश्रमवासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति में लगी रहती है।"

बा केवल अपने पुत्रों की ही स्नेहमयी जननी न थीं, वरन् सम्पूर्ण भारत की माँ के रूप में थीं।

२२ फरवरी, १९४४ को शिव-रात्रि के पवित्र दिन आगाखाँ महल में बा ने अपना नश्वर शरीर छोड़ा। अन्तिम क्षणों तक उन्हें बापू का ही ध्यान बना रहा। मृत्यु के पूर्व उन्होंने बापू के दर्शनों की इच्छा प्रकट की। बापू आये और उन्होंने उनका सिर गोद में रख लिया। वे उन्हें देख कर कहने लगीं, 'अब जाती हूँ'। और तभी उनके प्राण पखेरू उड़ गये। उस समय आत्म-ज्ञानी, परम दृढ़व्रती बापू के नेत्रों में भी अश्रु उमड़ आये थे। दाह-संस्कार होने के पश्चात

बापू ने कहा था, "बा मेरे जीवन का अविभाज्य अंग थीं। यद्यपि मैं चाहता था कि वे मेरे सामने ही चली जायँ, किन्तु उनकी मृत्यु से मेरे जीवन में जो सूनापन आ गया है उसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती।"

निःसन्देह, बा मरकर भी अमर हैं। उनकी आत्मा स्वर्ग से झाँक कर विश्व की नारियों में सदैव शक्ति और आत्मबल जागृत करके उन्हें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देगी।

श्रीमती सरोजिनी नायडु

जन्म तिथि : १३ फरवरी, १८७९
जन्म स्थान : हैदराबाद (दक्षिण)
मृत्यु तिथि : २ मार्च, १९४९
मृत्यु स्थान : लखनऊ

श्रीमती सरोजिनी नायडू
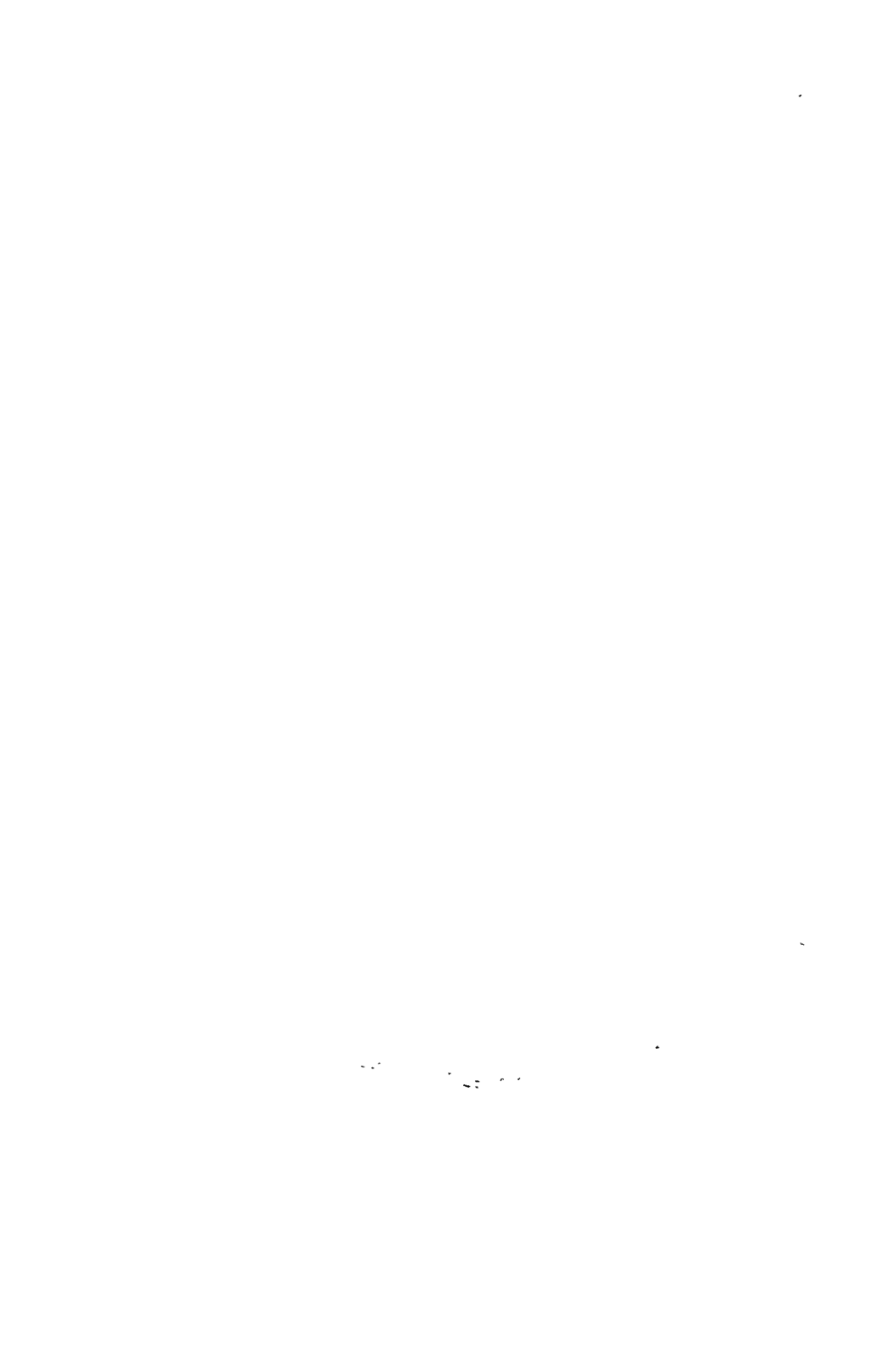
विश्व की सुप्रसिद्ध कवयित्री तथा भारत के राष्ट्रीय-क्षितिज की कर्मठ नायिका श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी विलक्षण प्रतिभा,काव्य-कुशलता, वक्तृत्व-शक्ति, राजनीति-ज्ञान तथा अन्तर्राष्ट्रीय-दृष्टिकोण के कारण केवल भारत में ही नहीं वरन् समस्त एशिया के नारी-जगत् में विशिष्ट स्थान रखती थीं। निस्सन्देह, वे भारतीय महिला-जागृति की मूर्तिमान प्रतीक थीं और उनका बहुगुणसमन्वित रूप अत्यन्त विस्मयकारी था। वे एक सफल कवयित्री थीं, जो मधुर कल्पना-लोक की कोमल भावनाओं और करुण अनुभूतियों को हृदय में सँजोये एक दिन राजनीति के कांटों-भरे क्षेत्र में उतर पड़ी थीं। वे एक पटु राज-नीतिज्ञ थीं, जिन्होंने विनाश और संघर्षों का सामना मुस्कान और गान के साथ किया था। वे एक कुशल वक्ता थीं, जिन्होंने अपनी

वाणी के जादू से लाखों नर-नारियों के दिलों में घर बना लिया था। वे एक निःस्वार्थ देश-सेविका थीं, जो अंधकार के बीच आशा की किरण लेकर आई थीं। वे एक सफल पत्नी थीं, जो अपने स्वामी और घर की एकच्छत्र स्वामिनी थीं। वे एक स्नेहमयी माँ थीं, जो हताश, पीड़ाकुल विश्व को सान्त्वना देने के लिये अवतीर्ण हुई थीं। और इन सबके बावजूद वे एक नारी थीं—एक ऐसी नारी, जिनमें उच्च भावना, प्रत्युत्पन्न मति, उत्कट प्रतिभा आदि विचित्र गुणों का अद्भुत संमिश्रण था और जिसे संसार का कोई भी व्यक्तित्व चुनौती नहीं दे सकता था।

श्रीमती नायडू का जन्म १३ फरवरी, सन् १८७९ को एक बंगाली ब्राह्मण परिवार में हैदराबाद (दक्षिण) में हुआ था। इनके पिता डा० अघोरनाथ चट्टोपाध्याय, जिन्होंने निजाम कालेज की स्थापना की थी और बाद में उसके प्रिंसिपल भी हुए—एक बहुत बड़े विद्वान् और वैज्ञानिक अन्वेषक थे। उन्होंने एडिनबरा विश्व-विद्यालय से डाक्टर की उपाधि प्राप्त की थी और अंग्रेजी, बंगला, हिब्रू, फ्रेंच, जर्मन, ग्रीक, संस्कृत और उर्दू आदि कई भाषाओं के पंडित थे। सरोजिनी की माता श्रीमती वरदा सुन्दरी देवी भी अत्यन्त विदुषी, भावुक महिला थीं और अपनी युवावस्था में बंगाली भाषा में बहुत सुन्दर कवितायें किया करती थीं। इस प्रकार प्रारम्भ से ही बालिका सरोजिनी पर माता-पिता की साहित्यिक अभिरुचि की गहरी छाप पड़ी थी।

सरोजिनी नायडू जब नौ वर्ष की थीं तो एक दिन अंग्रेज़ी न बोल सकने के कारण अत्यन्त लज्जित हुई थीं और तभी से अंग्रेज़ी बोलने तथा सीखने में उन्होंने अपनी ऐसी योग्यता प्रदर्शित की कि जो कोई भी सुनता चकित हो जाता था। उन्होंने अपनी सबसे पहली कविता ११ वर्ष की आयु में लिखी थी। बीज-गणित का प्रश्न करते-करते किस प्रकार उनमें कविता का स्फुरण हुआ इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है, "जब मैं ११ वर्ष की थी तो एक बार ऐसा हुआ कि बीज-गणित का एक प्रश्न मेरी समझ में नहीं आ रहा था। मैं हैरान थी, परन्तु उसकी बजाय एक कविता मेरे मन में स्वतः आ गई जो मैंने तुरन्त ही लिख डाली।" १२ वर्ष की अपनी छोटी उम्र में ही सरोजिनी

ने मद्रास विश्व-विद्यालय से मैट्रीकुलेशन की परीक्षा पास की। १३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने केवल छः दिनों में १३०० पंक्ति की एक लम्बी कविता रच डाली, जिसका नाम उन्होंने 'झील की रानी' रक्खा। इसके पश्चात् उन्होंने एक धारावाहिक नाटक २००० पंक्तियों का लिखा। सरोजिनी की विलक्षण प्रतिभा और कवित्व-शक्ति से प्रभावित होकर हैदरावाद के निज़ाम ने उन्हें विशेष अध्ययन के लिए विदेश जाने को प्रोत्साहित किया और ३०० पौंड अर्थात् ४२०००रुपये प्रतिवर्ष की छात्र-वृत्ति देने की घोषणा की। इंग्लैण्ड पहुँचने पर वे लंदन के किंग्स कालेज और कैम्ब्रिज के गिर्टन कालेज में अध्ययन करती रहीं। वहां वे केवल पढ़ने में ही व्यस्त नहीं रहीं, प्रत्युत अपनी कवित्व-शक्ति का भी उपयोग किया। वे वहाँ प्रसिद्ध विद्वान् एडमंड गोस, विलियम आर्चर और हैनीमैन जैसे प्रकाशकों से मिलीं और उनके प्रोत्साहन से अनेक उत्कृष्ट कवितायें लिखीं। अंग्रेज़ी कविताओं के उनके कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'दि गोल्डन थ्रेशोल्ड' (१६०५,The Golden Threshold), 'वर्ड आफ टाइम' (१६१०, Bird of Time) और 'दि ब्रोकन विंग' (१६१७, The Broken Wing) पुस्तकों के नाम उल्लेखनीय हैं। अपनी कविताओं में उन्होंने भारतीय जीवन के आकर्षक पहलुओं का चित्रण किया है।

भारत आने पर सन् १८६८ में इनका विवाह हैदरावाद के प्रधान मैडिकल अफ़सर डाक्टर गोविन्द राजुलु नायडू से सम्पन्न हो गया। डाक्टर नायडू ब्राह्मण जाति के नहीं थे, किन्तु यह बाधा सरोजिनी जैसी दृढ़प्रतिज्ञ नारी को रोक नहीं सकी। इनका वैवाहिक जीवन सुखमय और सन्तोषपूर्ण था। कालान्तर में इनकी तीन संतति हुइ, एक पुत्र और दो पुत्रियाँ।

किन्तु विवाह के पश्चात् केवल गृहस्थी के कार्यों से ही ये सन्तुष्ट नहीं हो सकीं। देश की करुण पुकार ने उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। उस समय श्री गोखले के नेतृत्व में कांग्रेस भावी स्वतंत्रता का पथ प्रदर्शन कर रही थी। वे उसी की अनुगामिनी बनीं और तब से अन्त तक राजनीतिक तूफ़ानों और झंझावातों से अनवरत संघर्ष करती रहीं। सन् १६१५ में उन्होंने वम्वई कांग्रेस अधिवेशन में

भाग लिया और सन १६१६ में लखनऊ कांग्रेस में सम्मिलित हुईं। तत्पश्चात् उन्होंने समस्त भारत का भ्रमण किया और मुख्य-मुख्य नगरों में भाषण दिये।

सन् १६१६ में जिस समय पंजाब का जलियाँवाला बाग हत्या-कांड हुआ तो उस समय वे लंदन में स्वास्थ्य सुधार कर रही थीं। इस घटना से उनके हृदय पर गहरी ठेस लगी और अस्वस्थता में भी इन्होंने डायरशाही के विरुद्ध घोर आन्दोलन किया। उस समय इन्होंने गांधी जी को लिखा था, "पंजाब-हत्याकांड की आग देश की आजादी से ही बुझ सकती है। डाक्टर लोग कहते हैं कि मुझे हृदय का रोग हो गया है और वह काफ़ी बढ़ गया है, मगर मेरा दुखता हुआ हृदय तब तक शान्ति नहीं पा सकता जब तक मैं भारत की करुण कहानी सुना कर सारे संसार के हृदय को हिला न लूँगी।"

सन् १६२४ में श्रीमती नायडू भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्ष होकर दक्षिण अफ्रीका गईं। सन् १६२६ में वे कांग्रेस के कानपुर अधिवेशन की अध्यक्ष निर्वाचित की गईं और सन् १६२८ में उन्होंने अमेरिका और कनाडा जाकर भारतीयों के दृष्टिकोण का अमेरिकियों में प्रचार किया।

महात्मा गान्धी की गिरफ्तारी के पश्चात् वे सत्याग्रह संग्राम में कूद पड़ीं और २३ मई, सन् १६३० को स्वयं बन्दी बना ली गईं। सन् १६३१ में वे गोलमेज परिषद् की सदस्या हो कर लन्दन गईं और सन् १६४२ के स्वतन्त्रता-संग्राम में उन्होंने डट कर अंग्रेजों का सामना किया। सन् १६४५ तक वे कारागार में बन्द रहीं और अस्वस्थता के कारण जेल से छोड़ी गईं।

१५ अगस्त, सन् १६४७ में स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर देश ने उनके सिर पर वृद्धावस्था में भी युक्तप्रान्त जैसे बड़े प्रान्त का शासन-सौंपा। अपनी गवर्नरी के कार्यकाल में उन्होंने जिस योग्यता-तत्परता कार्य परिचय दिया—वह चिरस्मरणीय रहेगा।

सबका श्रीमती सरोजिनी नायडू एक बेजोड़ उदाहरण थीं। उनका जीवन अटूट शक्ति से ओत-प्रोत था। सांस्कृतिक और राजनीतिक पहलुओं के अतिरिक्त उनके जीवन के अन्य कितने ही पहलू थे। उन्होंने सर्वप्रथम एक कवयित्री के रूप में जीवन में पदार्पण किया था। किन्तु जब वे कल्पना के कोमल लोक और साहित्य के सुकुमार जगत् को छोड़ कर राजनीति के काँटों-भरे कार्यक्षेत्र में उतर पड़ीं तो उन्हें काव्य-साधना का बहुत कम अवकाश मिला। अपनी मधुर भावना को उन्होंने त्याग का रूप दिया और अपने संगीतमय जीवन में चिरंतन साधना का कटु रस घोला। उनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने राष्ट्रीय युद्ध को राजनीतिक स्तर से ऊँचा उठा कर कलापूर्ण स्तर पर लाने का प्रयास किया और इस कार्य में उन्हें बहुत कुछ अंशों में सफलता भी मिली।

उन्होंने भारतीय नारी के उत्थान में प्रशंसनीय कार्य किया। वे पर्दा-प्रथा, बालविवाह आदि कुप्रथाओं से बहुत अधिक चिढ़ती थीं। वे स्त्री-पुरुषों के समान अधिकारों की क़ायल थीं। उन्होंने मि० मांटेग्यू के ऐतिहासिक भारतीय दौरे के समय 'अखिल भारतीय महिला डेपूटेशन' का नेतृत्व किया और नारी के बालिग मताधिकार की माँग की। नारी के अधिकारों के लिए जिस साहस और धैर्य के साथ वे लड़ीं, मांटेग्यू समिति में उन्होंने जिस निर्भीक कुशलता से नारी का पक्ष लिया, वह एक ऐतिहासिक घटना बन गई है। वे अत्यन्त गर्व के साथ कहा करती थीं कि मैं उस जाति की वंशजा हूँ, जिसकी माताओं के समक्ष सीता की पवित्रता, सावित्री के साहस और दमयन्ती के विश्वास का आदर्श है। वे भारतीय नारी की शक्ति से पूर्ण अवगत थीं और उसकी महत्ता को स्वीकार करती थीं।

इसके अतिरिक्त उनमें भारत की विभिन्न संस्कृतियों का ही नहीं, पाश्चात्य देशों की विभिन्न संस्कृतियों का भी अभूतपूर्व सामंजस्य था। वे अत्यन्त हँसमुख और मिलनसार प्रकृति की थीं। सर्वोच्च कोटि की भावुकता, नारी-सुलभ करुणा, शील और कोमलता, वातावरण को स्नेह एवं मृदुता से परिपूर्ण बना कर आकर्षक बनाने की उनकी अद्भुत क्षमता और इन सब के बावजूद उनका कोकिल-

कंठ और कवि-हृदय उस महामहिम नारी के स्निग्ध जीवन की विशेषता थी। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, पारसी, क्रिश्चियन सभी उनकी दृष्टि में समान थे और वे गरीब-अमीर छोटे-बड़े किसी में भी भेद-भाव को नहीं मानती थीं। वे जिस किसी से भी मिलती थीं उसे अपना बना लेती थीं। वे जहाँ कहीं भी जाती थीं उनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व समझ कर आदर और सत्कार किया जाता था। कहना न होगा कि वे एक महान् नारी थीं, जिन्होंने मानसिक, आध्यात्मिक तथा भौतिक क्षेत्रों में समान रूप से सफलता प्राप्त की थी।

इस प्रकार राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्रों में अपनी अप्रतिम प्रतिभा और तेजस्विता का सिक्का जमा कर ७० वर्ष के यशस्वी जीवन के पश्चात् २ मार्च, १९४९ में श्रीमती नायडू का देहावसान हुआ। यद्यपि वह महान् आत्मा अब हमारे बीच में नहीं है, तथापि वे किसी एक युग की नहीं अपितु युगयुगांतर की सम्पत्ति थीं। देश को स्वतन्त्र कर, अपने जीवन भर के संघर्षों और वलिदानों को फलीभूत देख कर वे हंसती हुई गई और आने वाली पीढ़ियों के लिए एक प्रकाश, एक आभा बिखेर कर अकस्मात् छिप गई।

श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित

जन्म तिथि : १८ अगस्त, १९००
जन्म स्थान : आनन्द भवन, इलाहाबाद

श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित

"आज तक हमारा काम परदेशी नींव के भवन को गिराना रहा है, परन्तु अब हमें अपना भवन बनाना है, जिसकी ईंटें हम और आप हैं। हम जितने सशक्त होंगे उतना ही दृढ़ यह हमारा भवन होगा; पर यदि हम दुर्बल रहे तो वह हवा के झोंके से गिर जायगा। हमें बड़े राष्ट्रों का सामना करना है। समय बढ़ रहा है और हम पिछड़ रहे हैं। हमें अपनी शक्ति तथा दुर्बलता की जाँच करनी चाहिए कि हम किस प्रकार आगे बढ़ें। हमारी स्वतन्त्रता उस स्वतन्त्रता का अंग है जिसके लिए दुनिया के सब व्यक्ति तड़प रहे हैं। हम अपने द्वारा विश्व को लाभ पहुँचा सकते हैं। हमारी क्रान्ति दुनिया में फैली है। विश्व की आँखें हम पर लगी हैं।"

ये शब्द हैं एशिया की सर्वप्रथम महिला-राजदूत श्रीमती

विजयलक्ष्मी पण्डित के, जो आज अंतर्राष्ट्रीय-क्षेत्र में पुरुषों से भी आगे बढ़ गई हैं। किसे आशा थी कि सदियों से जात-पाँत की सीमित प्राचीरों से घिरी रहने वाली, पर्दे की कठिन कारा में श्वास लेने वाली भारत-नारियाँ भी पुरुषों के साथ कार्य कर सकेंगी, उनके कन्धे से कन्धा मिला कर विश्व की समस्याओं का समाधान कर सकेंगी! किंतु राष्ट्रीय जागृति ने इसे सम्भव कर दिया है।

आज भारत के राष्ट्रीय-क्षितिज पर नव-जागृत स्वातन्त्र्य-संग्राम की अरुणिमा बिखरी हुई है। राष्ट्र के अन्तर में स्पन्दित होने वाली नई चेतना ने सोती नारियों को जगा दिया है। वे न केवल राष्ट्रीय क्रिया-कलाप में पुरुषों का हाथ बँटा रही हैं, प्रत्युत अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी पुरुषों को सहयोग दे रही हैं। भारतीय स्त्रियों की राष्ट्रीय चेतना का सब से बड़ा प्रमाण हैं श्रीमती पण्डित, जो अपने सहोदर भ्राता पं० नेहरू के साथ स्वतन्त्रता-संग्राम में अत्यन्त धैर्य एवं उत्साह से अपनी शक्ति की पूँजी का प्रयोग करती रही हैं।

१८ अगस्त, सन् १९०० में इलाहाबाद के प्रसिद्ध शाही महल आनन्द-भवन में इनका जन्म हुआ था। इनका बचपन जिस वैभव में बीता, उसके लिए बड़ी-बड़ी राजकुमारियों को भी तरसना पड़ता है। पिता पंडित मोतीलाल नेहरू और माता श्री स्वरूपरानी के संरक्षण में इनका लालन-पालन एवं शिक्षण कार्य हुआ। मिस हूयर नाम की अंग्रेज महिला इन्हें पढ़ाने के लिए नियुक्त की गई। पंडित मोतीलाल नेहरू अपनी लाड़िली बेटी के स्वास्थ्य का बहुत ध्यान रखते थे, अतः घुड़सवारी इन्हें अपना नित्य कर्म बना लेना पड़ा।

घर की बदलती हुई परिस्थितियों के साथ-साथ इनके सुकोमल ... पर कांग्रेस की छाप पड़ रही थी। देश की राजनीति में अनेक ... घटनाएँ हुईं और उनकी ओर इनका झुकाव बढ़ता गया। यद्यपि बम्बई आदि के कांग्रेस-अधिवेशनों में अपने पिता पंडित मोतीलाल नेहरू के साथ ये भाग ले चुकी थीं, तथापि अभी तक कांग्रेस में सक्रिय भाग इन्होंने नहीं लिया था। इस अवकाश में इनमें संयम, नियमन और सहिष्णुता का उचित मात्रा में विकास हुआ; भावी

जीवन-संग्राम की तैयारी का अच्छा सुअवसर मिला। सन् १९२० के लगभग इनका विवाह सुप्रसिद्ध न्याय-शास्त्री श्री रणजीत सीताराम पंडित से हुआ। विवाह होने के पश्चात् दोनों पति-पत्नी अन्य युवक-युवतियों की भाँति विवाह की रँगरेलियों में ही केवल निमग्न नहीं हुए, वरन् दोनों ने भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम में सक्रिय योग दिया। श्रीमती पंडित एक वीर राष्ट्र-सेनानी की भगिनी थीं। उन्होंने अपने पिता एवं भ्राता को जेल जाते देखा था। अतः तपोमय जीवन-यज्ञ में स्वार्थों की आहुति देकर देश के दुःख-सुख में हाथ बँटाना ही इनका कर्त्तव्य हो गया। सन् १९३० के असहयोग आंदोलन में ये अपनी छोटी वहिन श्रीमती कृष्णा हठीसिंह के साथ जेल गईं और वहाँ एक वर्ष बिताया। १९४० के व्यक्तिगत सत्याग्रह में भी ये जेल गईं और चार महीने नैनी जेल में रहीं। जब 'भारत छोड़ो' का जोरदार आन्दोलन आरम्भ हुआ तो इन्हें भी बन्दी बना लिया गया और ये नौ महीने तक जेल में रहीं, किन्तु स्वास्थ्य खराब होने के कारण इन्हें बीच में ही रिहा कर दिया गया। जेल से छूटते ही इन्होंने अकाल-पीड़ितों की सेवा का कार्यभार लिया। इनके पति श्री रणजीत सीताराम पंडित जेल में अस्वस्थ होने के कारण असमय में ही काल-कवलित होगए।

वैधव्य के क्रूर प्रहार ने भी इन्हें विचलित नहीं किया। सभी यातनाओं, तूफानों, काँटों और झंझावातों में ये अडिग रहीं। शीघ्र ही अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने का सुअवसर भी इन्हें मिला। सन् १९४४ के नवम्बर मास में होने वाली सेनफ्रान्सिस्को कान्फ्रेंस के अवसर पर अनेक अँगरेज कूटनीतिज्ञों के कारण अमेरिकनों के दिलों में भारतीयों के प्रति दुर्भावना उत्पन्न हो गई थी। अंगरेजों की राजनीतिक चाल ने भारत को विश्व की नज़रों में गिरा दिया था। उस अन्धकारपूर्ण समय में विद्युत्-रेखा-सी अपनी बुद्धि-प्रखरता से विदेशियों को चकाचौंध करती हुई ये अमेरिका पहुँचीं और अपने चमत्कारपूर्ण भाषणों द्वारा सभी को चकित कर दिया। इन्होंने कान्फ्रेंस के सदस्यों के मिथ्या-भ्रम का निराकरण किया और एक स्मृति-पत्र भेंट किया, जिसमें इन्होंने लिखा था कि "मेरी आवाज़ मेरे देश की आवाज़ है, जिस आवाज़ पर आज अँगरेजों ने फौलादी आज्ञाएँ

लगा दी हैं। मैं न केवल अपने देश की आवाज़ में बोल रही हूँ, बल्कि अपने पड़ोसी, फौजी शासन से पददलित बर्मा, हिन्दचीन और एशिया के पिछड़े हुए राष्ट्रों की ओर से भी बोल रही हूँ।" इन महत्त्व-पूर्ण शब्दों ने सारे विश्व को हिला दिया। उस समय अनेक बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों से मिलने का सुअवसर इन्हें प्राप्त हुआ और ये अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अत्यन्त प्रख्यात हो गईं।

किन्तु अभी इनके जीवन को तो और भी यशस्वी होना था। सन् १९४६ में जब भारत ने न्यूयॉर्क में होने वाले संयुक्त-राष्ट्र-संघ में, दक्षिण अफ्रीका में गोरों द्वारा वहाँ के भारतीयों पर किए जाने वाले अत्याचारों के विरुद्ध प्रश्न उठाया था तो ये भारतीय शिष्ट-मण्डल की नेत्री बन कर गई थीं। संयुक्त-राष्ट्र-संघ में केवल श्रीमती पंडित ही स्त्री-प्रतिनिधि थीं। इनकी विलक्षण प्रतिभा और प्रख्यात राजनीति ने न केवल भारत को ही, वरन् समस्त यूरोप को चकित कर दिया। इन्होंने दक्षिण अफ्रीका की यूनियन सरकार द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों का भण्डाफोड़ किया और दक्षिण अफ्रीका के तत्कालीन प्रधानमंत्री जनरल स्मट्स को अपनी करारी ललकारों से हतप्रभ कर दिया। जब जनरल स्मट्स ने अपनी सरकार की नीति, दक्षिण अफ्रीका में क्रिश्चियन सभ्यता की रक्षा करने की बताई तो इन्होंने प्रश्न किया कि यदि आज स्वयं क्राइस्ट जीवित होते तो क्या उन्हें १९१३ के 'देशान्तर-वास कानून' (Immigration Act) के अन्तर्गत देशान्तरवासी करार करके राज्य में घुसने दिया जाता? जनरल स्मट्स बहुत देर तक एशिया-निवासियों की त्रुटियों पर बोलते रहे और उन्होंने सबसे बड़ा अपराध उनमें बहुपत्नी-प्रथा होने का बताया। "किन्तु", श्रीमती पंडित ने तुरन्त ही सिंहगर्जना की, "मुझे यह विदित नहीं था कि ऐसी प्रथा के अन्तर्गत एवं क्रियात्मक रूप से केवल एशिया-वासियों तक मित है।" इस तीक्ष्ण व्यंग और कटु प्रहार ने सारी सभा का ह नीचा कर दिया।

दूसरे दिन अमेरिका के एक पत्र ने श्रीमती पंडित के चित्र को मुख-पृष्ठ पर छापते हुए इनकी प्रशंसा में लिखा था कि "१९४६ की

इस विलक्षण नारी ने सारे विश्व में क्रान्ति मचा दी है और दक्षिण अफ्रीका में गोरों द्वारा भारतीयों पर किए गए अत्याचारों के विरुद्ध किया हुआ इसका आन्दोलन सफल हुआ है।"

ये मन्त्री पद को भी दो बार सुशोभित कर चुकी हैं। ये जिस दक्षता एवं सुचारुता से कार्यभार सम्भालती हैं, उसे देख कर आश्चर्य होता है। १५ अगस्त, सन् १९४७ में राष्ट्रीय सरकार बनते ही ये रूस में राजदूत नियुक्त की गईं। ये ही सर्वप्रथम भारतीय महिला थीं जिसे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन्होंने अठारह महीने तक जिस चतुरता, बुद्धिमानी और कार्य-कुशलता का परिचय दिया है, वह प्रशंसनीय है।

ये यू० एन० असेम्बली में भारतीय-प्रतिनिधिमण्डल की नेत्री होकर अमेरिका गई थीं। हैदराबाद के आत्म-समर्पण पर जो विदेशों में मिथ्या भ्रम फैल गया था, उसका बहुत कुछ निराकरण इनके द्वारा वहाँ हुआ। इस उम्र में भी ये जिस साहस एवं कार्य-क्षमता का परिचय देती हैं, उसे देखकर आश्चर्य होता है।

इनकी सब मिलाकर तीन सन्तानें है। इनकी दो पुत्रियाँ चन्द्र-लेखा पंडित और रेखा पंडित अत्यन्त सुयोग्य एवं प्रतिभाशालिनी हैं। रेखा पंडित विशेष अध्ययन करके यूरोप से लौटी हैं। चन्द्रलेखा पंडित पत्र-कला में पूर्ण दक्ष हैं और आजकल 'नेशनल हैरल्ड' में काम कर रही हैं।

श्रीमती पंडित अत्यन्त मिलनसार और कोमल स्वभाव की सुसंस्कृत महिला हैं। ये अत्यन्त स्थितप्रज्ञ हैं और कष्ट और मुसीबतों में भी नहीं घबरातीं। प्रत्येक अमरीकन को आज ये भारत की आत्म-दृढ़ता और शांति का संदेश दे रही हैं। इनका साहस, कार्यदक्षता, वक्तृत्व-शक्ति, मस्तिष्कीय-सजगता और परिस्थितियों के अनुरूप विचारधारा को उन्मुख कर देने की क्षमता अद्वितीय है, जिसने सभी को मुग्ध कर लिया है। इन्हें संतोष है कि वे अपने कर्त्तव्य-पथ पर

श्रीमती अमृत शेरगिल

जन्म तिथि : ३० जनवरी, १९१३
जन्म स्थान : बुडापेस्ट (हंगरी)
मृत्यु तिथि : ५ दिसम्बर, १९४१
मृत्यु स्थान : लाहौर

वधू-श्रृंगार

अमृत शेर गिल

चित्रकला चित्रकार के गूढ़ भावों की अभिव्यंजना है, उसके अंतर्जगत् की सजीव झाँकी है। वह असत्य वस्तु नहीं, कल्पना की वायु से पोषित नहीं, ठोस और ध्रुव सत्य है। उसमें जीवन का वैभव और सत्सौन्दर्य निहित है। कला में कलाकार का व्यक्तित्व मुखरित हो उठता है, उसकी अंतश्चेतना के दर्शन होते हैं। सच्चा कलाकार वह है जो न केवल एक रुकी हुई परम्परा का पुनरुद्धार करता है, प्रत्युत उस ऊँची कला का दिग्दर्शन कराता है जो 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की समष्टि है, व्यष्टि नहीं, जो झिलमिल नीलाकाश के रजत प्रांगण में सौन्दर्य के समस्त प्रसाधन बिखेरती है, जो श्रेय, प्रेय, प्रेरणा की लहर है और जिसमें मानव-जीवन की बड़ी से बड़ी और लघु से लघु रंगीनियाँ खेल करती हैं। भारतीय नारी-कलाकारों में श्रीमती अमृत

शेरगिल का नाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उन्होंने अल्पकाल में ही आधुनिक कलाकारों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। कला-क्षेत्र में नारियों का सदैव से अभाव रहा है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने तो यहाँ तक कहा है कि विश्व में जितने भी बड़े-बड़े चित्रकार या मूर्तिकार हुए हैं, वे सब पुरुष ही हैं। यह कथन आंशिक रूप से सत्य होते हुए भी श्री अमृत शेरगिल के दृष्टांत से इस बात की प्रत्यक्ष पुष्टि करता है कि यदि सुविधाएँ दी जाएँ तो नारी पुरुष से बहुत आगे बढ़ सकती है।

३० जनवरी, सन् १९१३ को बुडापेस्ट में बालिका अमृत ने जन्म लिया था। उनके पिता खास पंजाब के रहने वाले, किन्तु माता हंगेरियन थीं। बाल्यावस्था से ही चित्रकला की ओर उनकी विशेष अभिरुचि थी। जब वे पाँच वर्ष की हुईं तो अपने बाग के पेड़-पौधों के चित्र कागज़ पर बनाया करतीं और उनमें रंग भरा करती थीं। पहले तो किसी का भी ध्यान उनकी चित्रकारी पर नहीं गया, किन्तु शनैः शनैः उनकी माँ अपनी पुत्री की चित्रकारी से प्रभावित हुईं और भारत आने पर उन्होंने अमृत के लिए एक अंग्रेज चित्रकार नियुक्त कर दिया। तीन वर्ष तक उस अंग्रेज-शिक्षक के तत्त्वावधान में वे चित्रकला का अध्ययन करती रहीं और अपनी विलक्षण प्रतिभा, सच्ची लगन, कठोर परिश्रम और दृढ़-इच्छा-शक्ति से बहुत कम आयु में ही कुशल चित्रकार बन गईं। अमृत की योग्यता और बुद्धिमत्ता पर वह अंग्रेज-चित्रकार भी दंग रह गया और उसने शेरगिल दम्पति को बाहर विदेशों में अपनी पुत्री को चित्रकारी की उच्च-कोटि की शिक्षा दिलाने की सम्मति दी। सन् १९२४ में शेरगिल-परिवार इटली चला गया।

वहाँ जाकर अमृत आर्ट-स्कूल में दाखिल हो गईं, किन्तु उन्हें संतुष्टि नहीं हुई। भारत लौटने पर उन्होंने घर पर अभ्यास करना ...या। और सामने किसी को बैठाकर अथवा तैल-रंगों में चित्र लगीं। १५ वर्ष की अवस्था में ही वे इतनी सुन्दर चित्रकारी ... लगीं कि जो कोई भी उनके बनाए चित्रों को देखता सहसा विश्वास न करता। अंत में अपने माता-पिता के साथ वे पेरिस गईं

और विश्वप्रसिद्ध कलाकार पीरे वेनां की शिष्या हो गईं। पाँच वर्ष तक निरंतर पेरिस में रहकर उन्होंने चित्रकला का परिमार्जित ज्ञान प्राप्त किया और शनैः शनैः पाश्चात्य पद्धति पर तैलरंगों में, वड़े वड़े कैनवसों, पर चित्र वनाने की अभ्यस्त हो गईं। उनके चित्र विशिष्ट कला-प्रदर्शनियों द्वारा प्रदर्शित किए जाने लगे और पत्रों में भी छापे गए। तत्पश्चात् वे 'ग्रैंड सैलों' की सदस्या वना ली गईं, जो कि एक भारतीय युवति के लिए वहुत ही सम्मान और गौरव का पद था।

भारत आने पर उन्होंने भारतीय चित्रकला का गहरा अध्ययन किया और उसकी विशेषताओं और वारीकियों को समझा। एक ओर पेरिस का विलासमय वातावरण, दूसरी ओर भारत की दयनीय दशा; एक ओर वैभव की चमक-दमक, दूसरी ओर मूक वेदना का करुण चीत्कार। अमृत दुविधा में पड़ गईं, किसे छोड़ें, किसे अपनाएँ। अन्त में उन्होंने अनुभव किया कि वे एक ऐसी स्थिति में पहुँच गई हैं कि जहाँ वे स्वतंत्र हैं, उन्हें कोई वन्धन नहीं, वे अपनी इच्छानुसार अपनी कला का मुख मोड़ सकती हैं। उन्नीसवीं शताव्दी के प्रारम्भिक चरण में भारतीय-चित्रकला पर इण्डो-ग्रीक और वौद्ध-कला का विशेष प्रभाव था। शनैः शनैः गुप्तकालीन कला पर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और भारतीय कलाकारों ने गुप्तकालीन चित्रकला की सूक्ष्मांकन-प्रणाली को अपनाया। व्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् तो रही-सही भारतीय कला भी नष्ट हो गई। किन्तु अकस्मात् वंगाल में कला की पुनर्जागृति हुई और श्री अवनीन्द्रनाथ टैगोर, नंदलाल वोस, वेंकटप्पा और जामिनी राय जैसे कलाविदों का प्राकट्य हुआ। उनकी चित्रकला में वाहरी चमक-दमक और आकर्षक रंगों का तो वहुलता से प्रयोग किया गया, किन्तु मौलिक कला-तत्त्वों का स्फुरण न हो सका। अमृत शेरगिल की कला ने इस क्षेत्र में एक नवीन प्रतिक्रिया की और आधुनिक भारतीय कला को विकसित और संवर्द्धित करने के लिए एक नया क़दम उठाया। उन्होंने अन्य कलाकारों की भाँति अजंता और राजपूत कला का अंधानुकरण न करके अपनी कला में पाश्चात्य और पूर्वीय कला के आवश्यक तत्त्वों को लेकर उनका सफल समन्वय किया। उनकी प्रारंभिक भारतीय पद्धति की

चित्रकृतियों में तो राजपूत कला का कुछ प्रभाव झलकता है, किन्तु बाद में तो उन्होंने कला-क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति की और दो सर्वथा स्वतन्त्र एवं भिन्न देशों के प्रमुख कला-तत्त्वों को लेकर एक मौलिक रूप दिया तथा एक नवीन शैली का प्रवर्त्तन किया।

अमृत शेरगिल ने चित्रों में पहाड़ी दृश्यों का बहुत सुन्दर चित्रण किया है। साधारण जीवन-दशा, आशा-निराशा, सुख-दुःख के आकुल-विह्वल भावों को उन्होंने अपने आकर्षक रंगों और रेखाओं द्वारा अत्यन्त खूबी से व्यक्त किया है। 'नवयुवतियाँ', 'कहानी-वक्ता', 'नारी' आदि चित्रों में भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के सफल समन्वय की अद्वितीय झाँकी मिलती है, मानों अमृत शेरगिल ने पाश्चात्य कला-तत्त्वों का अन्वेषण कर और भारती[illegible] चित्रकला पर दृष्टिपात करके अपनी तन्मयता में एक नवीन प्रेरणा पाई हो। उन्होंने कला के मर्मस्थल में पैठ कर जीवन के निगूढ़ सत्य के सम्मिश्रण का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप प्रस्तुत किया और इस प्रकार उनके चित्रों में अन्तर का चिंतन साकार हो उठा। उनके अंतस्तल का बोझिल भार आलोक बन कर छा गया।

इसके अतिरिक्त उनकी कला में ऐसी निर्भीकता, शक्ति और यथार्थता थी कि वे अपनी तूलिका के सूक्ष्म रेखांकनों एवं पूर्व और पश्चिम के मिश्रित अलौकिक कला-समन्वय से दर्शकों को मुग्ध कर लेती थीं। 'तीन बहिनें', 'पनिहारिन', 'वधू-शृंगार' आदि उनके चित्रों में जीवन का निगूढ़ सौन्दर्य सन्निहित है। उनका 'प्रोफेशनल मॉडेल' एक अमर चित्र है, जिसमें मार्मिक भावों की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। अमृत शेरगिल की कला पर गोगिन और अजंता-चित्रकला का विशेष प्रभाव है।

कलात्मक सजगता के साथ-साथ वे एक संवेदनशील नारी ौर आदर्श पत्नी भी थीं। सन् १९३२ में उनका विवाह विक्टर एगन न्न हुआ। उनका दाम्पत्य जीवन बहुत ही सुख और आनन्द से ता। वे अत्यंत स्नेहशील, मिलनसार और मधुर स्वभाव वाली थीं। जो कोई भी उनसे एक बार मिल लेता था, वह उनसे बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकता था। उन्हें निर्धन, निर्दम्भ, निस्पृह लोगों से बात-

चीत करने में बहुत सुख होता था। यदि कोई साधारण, गरीव
जिसे चित्रकारी का कुछ भी ज्ञान नहीं होता था, उनके चित्रों व
करता और उनकी प्रशंसा करता तो वे फूली नहीं समाती थ
ऐसे व्यक्तियों से सख्त नफ़रत थी, जो कला की पूर्ण जानव
दावा तो करते थे, किन्तु कला परखना और समझना नहीं जा
ऐसे ही अवसर पर उन्होंने शिमला-कला-प्रदर्शनी से पुरस्क
अस्वीकार कर दिया था, क्योंकि प्रदर्शनी ने अमृत शेरगिल
चित्रों को वापिस कर दिया था, जो उनकी दृष्टि में उच्च
कलात्मक चित्र थे और जिन पर पेरिस कला-प्रदर्शनी से स्व
मिल चुके थे। उन्होंने ऐसी संस्था से पारितोषिक लेने मे
अपमान समझा, जिसे चित्र परखने तक की योग्यता नहीं थी

५ दिसम्बर, १६४१ में लाहौर में अमृत शेरगिल का देह
हुआ। अपनी २६ वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने इतनी ख्याति
कर ली थी कि वे विश्व-प्रख्यात कलाकार मानी जाने लगी
निःसन्देह, यदि वे कुछ वर्ष और जीवित रहतीं तो कला-क्षेत्र
असाधारण क्रान्ति मचा देतीं और भारतीय कलाकारों के लि
नई कला-साधना का मार्ग प्रशस्त कर जातीं। किन्तु दैव की विड
वे एक ऐसी अविकसित कली थीं जो अपनी सुगन्ध बिखे
असमय में ही आँखों से ओझल हो गईं।

श्रीमती महादेवी वर्मा

जन्म तिथि : विक्रम-संवत् १६६४
जन्म स्थान : फ़र्रुख़ाबाद (उत्तर प्रदेश)

अभिव्यक्ति की आकांक्षा मनुष्य की सहजात प्रवृत्ति है। वह अपनी आंतरिक भावनाओं, हृदय के आलोड़न-विलोड़न, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा, सुख-दुःख और जीवन के विविध चित्र उपस्थित कर विश्व के अनुग्रह की आकांक्षा रखता है। मानवता की परस्पर अन्तस्थ में व्याप्त होने की यह आकुल भावना चिर-पुरातन है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में काव्य-शैली का अत्यधिक प्रसार एवं विकास हुआ है। उसमें नवीन भावों की अभिव्यंजना तथा कमनीय कल्पना की मनोहर उड़ान का अवस्थान है। जब दुनिया के पर्दे पर बीसवीं सदी के आँखों को लुभाने वाले विभिन्न चित्र अंकित हुए, उन्हीं चित्रों के साथ विज्ञान की उलझनें, उपयोगितावाद का

विकास और भौतिक जीवन की कशमकश हमारे जीवन के केन्द्र-विन्दु के आस-पास चक्कर लगाने लगे तो साहित्य-क्षेत्र में भी भारी उथल-पुथल हुई। व्यष्टिवाद की इमारत और सुदृढ़ प्राचीरें ढहने लगीं, सामूहिक चेतना जागी और स्त्रियों में भी प्रतिस्पर्द्धा के भावों का उद्वेलन हुआ। कविता की मोहक तान ने उनका ध्यान आकृष्ट किया और उन्होंने केवल भाव-भूमि में ही नहीं, वरन् कविता के कलापक्ष में भी पूर्ण योग दिया। हिन्दी-काव्य-गगन की उज्ज्वल तारिका श्रीमती महादेवी जी को कौन नहीं जानता ? आप एक चिन्तनशील, विदग्ध तथा भावुक नारी हैं। छायावादी कवियों में सबसे अधिक अनुभूति एवं मार्मिक अभिव्यंजना आपकी रचनाओं में पाई जाती है।

विक्रम संवत् १९६४ में इनका जन्म फर्रुखाबाद में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री गोविन्दप्रसाद वर्मा और माता का नाम श्री हेमरानी देवी है। विक्रम संवत् १९७५ में जब ये केवल ग्यारह वर्ष की थीं तभी इनका विवाह डाक्टर स्वरूपनारायण वर्मा से कर दिया गया था, किन्तु इनका जीवन एकदेशीय नहीं, वरन् असीमित आकाँक्षाओं और महान् आशाओं को प्रतिफलित करने वाला था। विवाह की परिमित परिधि इन्हें रुचिकर न हुई, इन्होंने महान् साहित्य-सेवा के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया। प्रयाग के क्रॉस्थवेट गर्ल्स कालेज में इन्होंने पढ़ना प्रारम्भ किया; संस्कृत और फिलासफ़ी इन दो विषयों को लेकर बी० ए० कर लेने के पश्चात् इन्होंने संस्कृत में एम० ए० किया। जब ये एफ़० ए० में पढ़ रही थीं तभी से इनकी कविताएँ 'चाँद', 'माधुरी' आदि प्रमुख मासिक पत्रों में छपनी प्रारम्भ हो गई थीं। एम० ए० कर लेने के बाद ये प्रयाग महिला विद्यापीठ में प्रिंसिपल हो गई और आज तक उसी पद पर सम्मानपूर्वक कार्य कर रही हैं। ये प्रारम्भ से ही अत्यन्त प्रखरबुद्धि और गंभीर मनोवृत्ति की महिला हैं। इनके प्रयत्न से साहित्यकार-संसद की स्थापना हुई जिसकी ओर से लेखकों और कवियों का सम्मान और उचित की जाती है।

कोमलता, मधुरता, पीड़ा इनके हृदय की अमूल्य निधि हैं। अन्तर्व्यथा के तप्त उच्छ्वासों में अपने आकुल प्राणों को तपाते रहने

में ही उन्हें चरम सुख की अनुभूति होती है, उसी में उन्हें एक प्रकार का प्रोज्ज्वल आनन्द प्राप्त होता है। वेदना आपकी चिर-सखी है, आप उसके बिना रह नहीं सकतीं।

"पर शेष नहीं होगी यह, मेरे प्राणों की क्रीड़ा,
तुमको पीड़ा में ढूँढा, तुम में ढूँढूँगी पीड़ा।"

'नीहार' और 'रश्मि' नामक दोनों पुस्तकों में इनके निराशा से अभिभूत हृदय की करुण झाँकी है और 'दीप-शिखा' में आकुल प्रणय की शमा छटपटा रही है। आपका हृदय निरन्तर किसी अभाव का अनुभव करता है, उसी के अन्वेषण में व्याकुल है। प्रथम मिलन के पश्चात् ही उस अज्ञात प्रियतम से आपका विरह हो गया, वे प्रिय को आँख भर देख भी तो नहीं पाईं :—

"इन ललचाई पलकों पर पहरा जब था व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला उस चितवन ने पीड़ा का।"

महादेवी जी प्रधानतः अन्तर्वृत्ति-निरूपक कवयित्री हैं। वे अपने भीतर स्वयं को तथा वस्तु-जगत् को देखती हैं, साथ ही उस निराकार की भी उपासिका हैं, जो विश्व के कण-कण में, प्रकृति की अनन्त सौंदर्य-श्री में आभासित है :—

"नीरव तम की छाया में छिप,
सौरभ की अलकों में।
गायक ! यह गान तुम्हारा,
आ मँडराया पलकों में॥"

आपके 'मूक-मिलन', 'मूक-प्रणय' में सरस एवं भावुक हृदय में उठने वाली अनुभूति-लहरियों का हृदयग्राही चित्रण है। रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता में विभोर होकर आपने जिन पद्यों का निर्माण किया है, छायावाद की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का, आत्मा की परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-वेदना का, दिव्य एवं अलौकिक चिन्मय शक्ति से अपने सूक्ष्म सम्बन्धों की चेष्टा का तथा स्थूल सौंदर्य के प्रति मानसिक आकर्षण के उच्छ्वास-भरे अनेक चित्रों का जो सजीव चित्रण आपने

अपनी कविताओं में किया है उसमें आपकी निराली भावभंगिमा के दर्शन होते हैं और जीवन का गंभीर दार्शनिक-तथ्य भी अन्तर्निहित मिलता है।

"मुझे न जाना अलि ! उसने
　　जाना इन आँखों का पानी।
मैंने देखा उसे नहीं
　　पदध्वनि उसकी पहिचानी॥
मेरे जीवन में उसकी स्मृति—
　　भी तो विस्मृति बन आती॥
उसके निर्जन [मन्दिर में,
　　काया भी छाया हो जाती।
क्यों यह निर्मम खेल सजनि !
　　उसने मुझ से खेला है॥"

कितनी मार्मिक पंक्तियाँ हैं। सत्य के अन्वेषण में आकुल प्राण चहुँ ओर के दुःख-बाहुल्य से क्षुब्ध और, कातर मन दीपक के सदृश अहर्निश जला करता है। प्रकृति के अंचल में जब उसका औत्सुक्य जागृत हो जाता है तो गगन-पथ में बिखरे अगणित मोती उसे अपनी ओर आकृष्ट करने में असमर्थ होते हैं—वह उनके अनुपम सौंदर्य को भूल जाता है :—

"आलोक यहाँ लुटता है,
　　बुझ जाते हैं तारागण।
अविराम जला करता है,
　　पर मेरा दीपक सा मन।"

महादेवी जी की अन्तर्भेदिनी दृष्टि तीक्ष्ण और सूक्ष्म है, आपकी भावनाएँ कहीं-कहीं बड़ी गूढ़ होती हैं। जीवन तो सदैव समान रहता, विषमता में डूबता-उतराता रहता है, अतएव आप ईश से प्रार्थना करती हैं कि आपके जीवन में सदैव अतृप्ति बनी रहे, क्योंकि दुःख में ही सुख अंतर्निहित है और निराशा में ही आशा की करण फूट पड़ती है।

"मेरे छोटे जीवन में,
देना न तृप्ति का कण भर।
रहने दो प्यासी आँखें,
भरती आँसू के सागर॥"

आप विषाद में ही हर्ष, ताप में ही शीतलता तथा पीड़ा में ही आत्मानन्द का अनुभव करती हैं :—

"एक करुण अभाव में,
चिर-तृप्ति का संसार संचित।
एक लघु क्षण दे रहा,
निर्माण के वरदान शत-शत।
पा लिया मैंने किसे,
इस वेदना के मधुर क्रम में।
कौन तुम मेरे हृदय में ?"

महादेवी जी की 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' नवीन कृतियाँ हैं। कवयित्री के पहले के उद्गारों में पीड़ा है, कसक है, किन्तु इन दोनों पुस्तकों में दुःख-सुख की समान अभिव्यंजना है। इनके गीति-काव्य में मधुरता और संगीत का अभूतपूर्व आविर्भाव हुआ है। इनकी कोमल भावनाएँ यथार्थता में उलझी नहीं रह सकीं, फलतः इनकी कविता वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़ी है। इतने वर्षों से बाह्य जीवन एवं सामाजिक परिस्थितियों से अधिकाधिक विषम होते जाने के साथ-साथ इनकी कविता भी उसी अनुपात में अंतर्मुखी होती गई है। सत्काव्य के आधार-तत्व—अनुभूति और कल्पना का अनुकूल सामंजस्य होते हुए भी इन्होंने अपनी दार्शनिक मान्यताओं को सामाजिक-यथार्थों की रगड़ खाने से बचाया है। इनके भावों की तन्मयता, कल्पना की उड़ान और सूक्ष्म भावजन्य मादकता इतनी तीव्र है कि उनका चिंतन साकार होकर प्रणय-कविताओं में उभर पड़ा है।

"मधुर-मधुर मेरे दीपक जल,
युग-युग प्रति-दिन प्रति-क्षण प्रति-पल
प्रियतम का पथ आलोकित कर।"

श्रीमती राजकुमारी अमृतकौर

जन्म तिथि : २ फरवरी, १८८६
जन्म स्थान : लखनऊ (उत्तर प्रदेश)

राजकुमारी अमृतकौर

श्री राजकुमारी अमृतकौर वर्तमान युग की उन श्रेष्ठ नारी-विभूतियों में से एक हैं, जिन्होंने राजनीतिक-क्षेत्र में सक्रिय भाग लेकर अपने देश को गौरव और सम्मान प्रदान किया है। अगस्त, सन् १९४७ को जब भारत स्वतन्त्र-राष्ट्र घोषित हुआ तो इन्हें केन्द्रीय सरकार के स्वास्थ्य-सचिव-पद पर नियुक्त किया गया था। तब से आज तक अपने कार्य-भार को ये अथक परिश्रम और सु[illegible] पद्धति से सम्भाल रही हैं।

२ फरवरी, सन् १८८९ में इनका जन्म लखनऊ के कपूरथला शाही महल में हुआ था। ये कपूरथला के भूतपूर्व राजा सर हरनाम सिंह की एकमात्र पुत्री हैं और इनकी शिक्षा-दीक्षा भारत और इङ्गलैंड में, प्रमुख रूप से शेरबोर्न गर्ल्स स्कूल (लंदन) में हुई है।

गाँधी-युग के प्रारम्भिक चरण में जिन कुछ व्यक्तियों ने अपने आप को त्याग, तपस्या और बलिदान के पथ पर अग्रसर किया, उनमें राजकुमारी अमृतकौर को प्रथम पंक्ति में रखा जायगा, इसमें सन्देह नहीं। इन्होंने तपःपूत बापू के सम्पर्क में रहकर राष्ट्र के कल्याण का व्रत ले लिया था और उनके द्वारा प्रचारित मानव-प्रेम के आदर्श से अनुप्राणित होकर उस जीवन-पद्धति को अपना लिया था, जो संक्रान्ति-युग की प्रेरक और मानवीय कुंठित-चेतना को विकसित करने वाली है। लगभग सोलह वर्ष तक ये गाँधी जी के सेक्रेटरी का कार्य भी करती रहीं।

सन् १९३० में ये 'अखिल भारतीय महिला-सभा' की मंत्री और सन् १९३३ में उसकी अध्यक्षा निर्वाचित हुईं। सन् १९३४-३६ में ये जालंधर शहर में म्यूनिसिपल-कमिश्नर भी रहीं, जहाँ इन्हें कुछ समय तक स्त्री-शिक्षा, बालकों के सुधार और सामाजिक-सेवाओं का अवसर मिला। सन् १९३२ में लार्ड लोथियन की 'चुनाव-समिति' के समक्ष इन्होंने 'अखिल-भारतीय महिला सभा' और 'राष्ट्रीय नारी-संघ' का महत्त्व दर्शाया और सन् १९३३ में लंदन की संयुक्त-चुनाव-समिति में इन्होंने 'भारतीय महिला-एसोसिएशन' का प्रतिनिधित्व किया। सन् १९३८ में ये पुनः 'अखिल भारतीय महिला-सभा' की प्रेसीडेण्ट नियुक्त हुईं।

केन्द्रीय-सरकार में राजकुमारी अमृतकौर ही सर्वप्रथम शिक्षा-एडवाइज़री-बोर्ड की महिला-सदस्या निर्वाचित की गईं और तबतक इस पद पर रहीं जबतक कि स्वयं इन्होंने अगस्त, १९४२ में मतभेद के कारण त्याग-पत्र न दे दिया, किन्तु ये पुनः सन् १९४६ में एडवाइज़री-बोर्ड की सदस्या हो गईं।

कुछ वर्षों तक ये 'ऑल इण्डिया स्पिनर्स एसोसिएशन' के ट्रस्टी भी मेम्बर रहीं और इसके अतिरिक्त 'हिन्दुस्तानी तालीमी-संघ' 'अखिल भारतीय महिला-सभा' की स्थायी-समिति की भी करती रहीं।

नवम्बर, १९४५ में ये भारतीय-प्रतिनिधि-मंडल के साथ 'यूनेस्को'

के लिए लंदन पधारीं और पुनः सन् १९४६ में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल की उपनेतृ होकर पेरिस गईं। सन् १९४९–५० में इन्होंने 'विश्व-स्वास्थ्य-संघ' में 'इंडियन-डेलीगेशन' का नेतृत्व किया और सन् १९३० में 'विश्व-स्वास्थ्य-एसेम्बली की प्रेसीडेण्ट चुनी गईं।

राजकुमारी अमृतकौर टेनिस खेलने में अत्यन्त दक्ष हैं। शिमला और लाहौर की खिलाड़ी टीमों में कई बार 'चेम्पियनशिप' जीत चुकी हैं। भारत की विभिन्न स्त्री-शिक्षा-संस्थाओं को, जिनसे कि ये सम्बन्धित रही हैं, इन्होंने खेलों और बाहरी-प्रक्रियाओं का महत्त्व समझाया है। ये भारत की 'नेशनल स्पोर्ट्स क्लब' की प्रेसीडेण्ट हैं।

सन् १९४८ में ये 'इण्डियन रेड क्रॉस सोसाइटी' की चेयरमैन और 'सेंट जॉन एम्बूलेंस ब्रिगेड' की चीफ़ कमिश्नर नियुक्त हुईं। सन् १९४८-४९ में ये 'अखिल भारतीय समाज-संघ' की प्रेसीडेण्ट रहीं और आजकल 'अखिल भारतीय कोढ़ी एसोसिएशन' की चेयरमैन तथा 'अखिल भारतीय यक्ष्मा एसोसिएशन' की प्रेसीडेण्ट हैं। आप गाँधी-स्मारक-कोष की ट्रस्टी भी हैं।

इन्होंने गाँधी जी के साथ रह कर कई वर्षों तक 'हरिजन' के संपादन में हाथ बँटाया है। अंग्रेज़ी धाराप्रवाहिक रूप से ये लिखती और बोलती हैं। इनकी दो सुप्रसिद्ध पुस्तकें 'टु विमेन' (To Women) और 'चेलेञ्ज टु विमेन' (Challenge to Women) इनकी विचारधारा की परिचायक हैं, जो इनके हृत्तन्त्री के तारों को झंकृत करती हैं। इन्हें हिन्दी से अत्यधिक प्रेम है। जब कभी भी हिन्दी बोलने अथवा लिखने का सुयोग होता है, ये बड़ी सुचारुता से उसका प्रयोग करती हैं। अभी हाल में ही ये 'अखिल-भारतीय-हिन्दी-परिषद' की देहली-प्रान्तीय शाखा की सभानेत्री चुनी गई थीं।

इनका जीवन बहुत ही सरल और निर्दम्भ है। विदेशों में भ्रमण करके और लंदन के स्कूलों में अधिकतर शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी ये जीवन-कला की उन वैयक्तिक और सामाजिक मिथ्या व्यावहारिकताओं से अनभिज्ञ हैं, जिनके आचरण से मस्तिष्क अशांत और दैनिक परिस्थितियाँ बोझिल हो जाती हैं। नारी के समानाधिकारों की क़ायल होते हुए भी ये उसकी उच्छृंखल मनोवृत्ति, पतित आचरण

और बढ़ती हुई कुत्सित क्रीड़ाओं की वासना को हेय समझती हैं। नारी की सच्चरित्रता पर ज़ोर देती हुई एक स्थल पर ये अपना मन्तव्य इस प्रकार प्रकट करती हैं :—

"अच्छे चाल-चलन वाली स्त्री का मूल्य जगमगाते जवाहिरों से भी अधिक है। वह देश के आध्यात्मिक विकास और संस्कृति की रक्षक है।"

स्त्रियों में सामाजिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न करने के लिए, उन्हें सामयिक समस्याओं के समाधान योग्य बनाने के लिए और घरेलू-जीवन को सुन्दर, स्वस्थ और सुखमय तथा अपढ़ ग्रामीण नारियों को बाल-मनोविज्ञान और शिशु-पालन के सिद्धांतों से परिचित कराने के लिए सुन्दर शिक्षा की आवश्यकता है। राजकुमारी अमृतकौर लिखती हैं—

"नारी-जीवन की समस्याएँ आज के युग में सर्वतोमुखी हो उठी हैं, उनके बारे में कहने का अंत नहीं है। कारीगर जैसे टूटी दीवार का पुनर्निर्माण करता है, वैसे ही हमें तो नारी-जीवन की सभी समस्याओं का एक ही सुलझाव या हल दिखाई पड़ रहा है और वह नारी-जीवन की निर्माण-शक्ति। उन्हें प्रारम्भ से ही मानसिक और नैतिक, अनुशासन और सहयोग की शिक्षा देना आवश्यक है। मनुष्य की सामाजिक इकाई कुटुम्ब है और घर के वातावरण को सुनिश्चित बनाए रखना स्त्री का ही कर्त्तव्य है। हमें उनमें काम की महत्ता जागृत करनी चाहिए, ताकि वे समाज पर बोझ न बन सकें।"

अध्ययन और मनन की प्रवृत्ति होने के कारण श्रीमती राजकुमारी अमृतकौर ने स्वभावतः एकाकी जीवन ही अधिक व्यतीत किया है। विगत साठ वर्षों की अनवरत साधना, एकाकी कर्मठ-जीवन और कठोर तपश्चर्या से जो स्वतन्त्र-राष्ट्र का निर्मातृ-पद इन्होंने प्राप्त किया है वह भारतीय-स्वतन्त्रता के इतिहास में सदैव चिरस्मरणीय रहेगा।

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय

जन्म तिथि : ३ अप्रैल, १९०३
जन्म स्थान : बंगलोर (मद्रास)

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय आज के युग में एक क्रियाशील, आशावादी और विद्रोहिणी नारी हैं। इनके आदर्शों की व्यापकता, जीवन-पथ पर अग्रसर होने के लिए कुछ निश्चित सिद्धान्त, और बिना किसी साधन एवं सहायता के एक विशाल जन-संगठन के आयोजन का इनका अजेय साहस कुछ ऐसा निरालापन लिए हैं जो बिना प्रभावित किए नहीं रहता। इनकी विशेषता है कि इन्होंने व्यवहार की सरलता को जीवन में उतार लिया है। ये मानव-प्रेम की अग्रदूत और अपने विराट् व्यक्तित्व एवं अदम्य क्षमता से प्रत्येक सुप्त-मानस में व्यावहारिक जीवन की प्रेरणा उत्पन्न कर रही हैं।

इनके अन्तर में विद्रोह की चिनगारियाँ सुलग रही हैं। ये भारत

की मूक जनता में अपनी क्रान्ति-चेतना प्रक्षेपित कर उसके लड़खड़ाते पैरों में शक्ति और ओज भरना चाहती हैं और मुक्ति-कामना के उद्भासित कणों को बटोर कर जनता की स्तब्ध शक्ति को जागरूक करने का प्रयास कर रही हैं। उन्हीं के शब्दों में, "जन-क्रान्ति के पीछे जनता की शक्ति होनी चाहिए, जिसके लिए विदेशी राज्य के अंत का अर्थ है सैंकड़ों वर्ष के कष्टों का अंत होना। यदि हम अपने स्वतन्त्रता-संग्राम के इस पहलू को भूल जाएँगे और स्वतन्त्रता का अर्थ केवल विदेशी शासन की समाप्ति को ही समझ लेंगे तो हमारी यह विजय सर्वग्रासी अधिनायकतन्त्र में बदल जायगी। नेताओं को और जनता को अपनी इस विजय को उस आदर्श के निकट पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए, जिसके लिए हजारों ने अपना प्राणोत्सर्ग किया है। ब्रिटेन के साथ समझौता करने अथवा दूसरे शोषक वर्ग की तुष्टि करने की वर्त्तमान नीति यदि शीघ्र नहीं छोड़ दी गई तो हमारे नब्बे वर्ष के संघर्ष का अन्त प्रतिक्रान्ति और जनता के साथ विश्वासघात में परिणत हो सकता है, यह हमें नहीं भूलना चाहिए।"

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय का सम्बन्ध उन सैद्धान्तिक प्रश्नों से है जो विश्व की समस्त पूँजीवादी व्यवस्था पर कठोर प्रहार करते हैं। इनके सामाजिक और राजनैतिक आदर्शों का आधार है जनतन्त्र के प्रगतिपूर्ण संघर्षों को स्वीकार कर सबको आर्थिक समानता प्रदान करना, जो सम्पूर्ण मानवता के लिए श्रेयस्कर और लाभप्रद है। वह लिखती हैं :

"मानव-मस्तिष्क को एक गढ़े हुए ढाँचे में ढाल कर विशेष ढंग से सोचने और समझने के लिए विवश नहीं करना चाहिए, वरन् उसे स्वतन्त्र विचारों को ग्रहण करने के लिए उत्साहित करना चाहिए। और व्यक्तिगत विभिन्नता को विभाजन रेखा न मान कर सहयोगपूर्ण सामूहिक-जीवन का स्रोत मानना चाहिए। स्वतन्त्रता की भाँति लोकतन्त्र भी केवल नारे लगाने से अनुभवगम्य नहीं होता, उसे जीवन में बरतना पड़ता है। पारस्परिक उत्तरदायित्व की सुदृढ़ परम्परा का विकास सर्वाधिक आवश्यक है। इस उत्तरदायित्व

में दयालुता और सुविचार का योग भी निश्चित है। यह उत्तरदायित्व बौद्धिक एवं सामाजिक दृष्टि से अविच्छिन्न है।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्त्तमान सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था में छटपटाते व्यक्ति, जीवन-निषेधों और रूढ़िग्रस्त अंधविश्वासों से प्रताड़ित मानव और व्यक्तिवादी एवं समूहवादी आदर्शों के बीच जहाँ वैपरीत्य, वैषम्य है, वहाँ इन्होंने कठोर और उद्धत नियन्त्रण द्वारा अपनी विरोध-भावना और असहमति व्यक्त की है। अपने कर्त्तव्य की जवाबदारी का दायित्व ये पग-पग पर स्वयं महसूस करती हैं। यही कारण है कि इनके जीवन और लेखों में वैयक्तिक और सामूहिक हित की भावना सर्वत्र दृष्टिगत होती है।

इन्हें आरम्भ से ही किसी प्रकार का भी प्रतिबन्ध अरुचिकर रहा है। बंगलोर में मद्रासी ब्राह्मण-परिवार में जन्म लेकर तत्कालीन सामाजिक प्रथा के कारण जब अत्यन्त बाल्यावस्था में ही इनका विवाह कर दिया गया और पुनः नियति के क्रूर विधान के कारण ये कुछ दिन बाद ही विधवा हो गईं तो इन्हें उसी दारुण स्थिति में जीवन बिताने के लिए विवश किया गया। स्त्री की स्वतन्त्र-सत्ता उन दिनों किसी प्रकार भी मान्य नहीं थी। किन्तु उस पिछड़े हुए ज़माने में भी ये जीवन-प्रगति की प्रतिद्वन्द्विता में पीछे नहीं रहने पाईं।

ये पढ़-लिख कर स्वयं अपने पाँवों पर खड़ी हुईं और अध्ययन काल में ही श्रीमती सरोजिनी नायडू के सहोदर भ्राता श्री हरीन्द्रनाथ भट्टाचार्य के साथ इन्होंने अपना विवाह कर लिया। इनके पति स्वयं एक अच्छे कवि, लेखक और राजनीतिज्ञ थे। विवाह के पश्चात् दोनों पति-पत्नी विदेश चले गए और वहाँ से लौट कर पुनः राजनीति के कांटों-भरे क्षेत्र में उतर पड़े। उन्हें अनेक कठिनाइयों में से गुज़रना पड़ा। देश में जो नवीन जीवन-धारा बह रही थी, उससे पृथक् रहना अधिक सम्भव न था; अतएव सन् १६३० में भारतीय स्वातन्त्र्य-युद्ध में इन्होंने सक्रिय भाग लिया। उन दिनों बम्बई में इन्होंने जो चमत्कार दिखाए उसकी अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। कुछ स्वयंसेवकों

के साथ ये बम्बई-स्टॉक-एक्सचेंज की परिधि में धड़धड़ाती हुई घुस गईं और एक घण्टे से भी कम समय में गैर-कानूनी नमक की छोटी-छोटी पुड़ियाँ बेच कर चालीस हज़ार रुपये एकत्र कर लिए। कानून की रक्षा के लिए जब उन्हें बन्दी बना लिया गया तो निर्भीक होकर मैजिस्ट्रेट के सामने सिंह-गर्जना करने लगीं कि उसे इस नौकरशाही से त्यागपत्र देकर जन-आन्दोलन में शामिल हो जाना चाहिए। सबसे आश्चर्य की बात तो यह कि उसकी उपस्थिति में ही इन्होंने नमक की पुड़ियाँ बेचनी आरम्भ कर दीं और वह विस्मय में डूबा हुआ आँखें फाड़ कर इस साहसी महिला को देखता रहा।

इस घटना के कारण इन्हें नौ महीने का कठिन कारावास भुगतना पड़ा, किन्तु ये अपने निर्धारित मार्ग से क्षण भर के लिए भी विचलित नहीं हुईं। परिस्थितियाँ इन्हें अधिकाधिक उद्दण्ड बनाती गईं। एक बार छात्र-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद के निमन्त्रण पर जब ये त्रावणकोर जा रही थीं तो इन्हें राज्य की सीमा पर ही रोक लिया गया और बन्दी बना लिया गया। इससे समस्त राज्य में खलबली मच गई और त्रावणकोर की प्रजा भड़क उठी, जिसके दमन के लिए बाहर से फौज तक बुलानी पड़ी। अन्त में इन्हें छोड़ दिया गया और इन्होंने एक सफल राजनीतिज्ञ की भाँति नहीं, वरन् सफल सेनापति की भाँति विजय पाई। विगत महायुद्ध के समय जब ये अमेरिका से भारत वापिस आ रही थीं तो बीच में जापान में भी उतरी थीं और इन्होंने एक विशाल जन-समूह के समक्ष चीन पर जापानी आक्रमण का तीव्र विरोध किया था। अपनी निर्भीक वक्तृत्व-शक्ति के कारण एक बार हाँगकाँग में ये बन्दिनी भी बना ली गई थीं।

प्रारम्भ से ही स्त्रियों की दुरवस्था की ओर विशेष रूप से आकर्षित होने के कारण इन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय [illegible]-आंदोलन की प्रगति और उसके उत्थान में लगाया है। दीर्घकाल [illegible] नारी की शक्ति का ह्रास देखकर इनका हृदय मूक-क्रन्दन [illegible] लगता है और निरीह, अबोध कन्याओं के बाल-विवाह, अनमेल-[illegible] और वैधव्य की अमंगल स्थिति पर ये विचलित हो उठती हैं। इनके आदर्श और दृष्टिकोण इतने व्यापक हैं, जीवन की परिमिति से

ये इतनी ऊपर उठ गई हैं कि वैवाहिक-बन्धन और गार्हस्थिक-प्रेम की परिधि इन्हें अपनी सीमा में आबद्ध नहीं रख सकी है। एक पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् ये वैवाहिक-दायित्व से भी मुक्त हो चुकी हैं।

अपने पति श्री हरीन्द्रनाथ भट्टाचार्य के साथ, और कई बार अकेले भी, इन्होंने यूरोप का भ्रमण किया है। तीन बार ये विश्व-यात्रा भी कर चुकी हैं। अपने विगत सार्वजनिक-जीवन में ये 'अखिल भारतीय महिला-सम्मेलन' की अध्यक्षा चुनी गईं और सन् १९३९ में स्टॉकहोम में होने वाले 'अन्तर्राष्ट्रीय-महिला-सम्मेलन' और जेनेवा में होने वाले 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन' में इन्होंने भारत की ओर से प्रतिनिधित्व भी किया है। बर्लिन, प्रेग, एलिसनोर, कोपेनहेगन आदि स्थानों में समय-समय पर होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय महिला-सम्मेलनों में ये भारत की प्रतिनिधि बनाकर भेजी गई हैं।

यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि अपनी स्वान्तः प्रेरणा से ही इन्होंने जीवन-साधना आरम्भ की थी और उसी के भरोसे मुसीबतों और अड़चनों में भी ये क़दम बढ़ाती हुई अग्रसर होती रहीं। आजकल ये समाज की उन्नति एवं नव-निर्माण के लिए प्रयत्नशील हैं। साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और जराग्रस्त सामाजिक व्यवस्था की थोथी प्राचीर को ये धराशायी कर देना चाहती हैं। ये शासन-योजना, आज का अनियन्त्रित व्यक्तिवाद और मानवता की परिभाषा बदल कर समयानुकूल परिवर्त्तन की क़ायल हैं। ये लिखती हैं:

"जीवन की भयानक यथार्थताएँ मनुष्य को डराकर उसके अन्दर सपने तोड़ देती हैं, उजला पर्दा फाड़ देती हैं और मनुष्य फिर भय और शंका के शिकंजे में जकड़ा जाता है। इस हालत में मनुष्य को कुछ ऐसी सच्ची चीजें दिए जाने की आवश्यकता है, जिनको वह दिल से चाहता है, जो उसके नित्यप्रति के जीवन के लिए अनिवार्य और जो ज़िन्दगी में उसकी दिलचस्पी बनाए रखती हैं।"

अंत में यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय ने दुनिया को नया दृष्टिकोण, नया जीवन और नई

विचारधारा दी है। इनके मूल सिद्धान्तों के विवेचन से ज्ञात होता है कि जिस समाजवाद का नेतृत्व ये आज कर रही हैं, वह मानव-विकास और क्रान्तिपूर्ण शासन, समानता और स्वतन्त्रता का द्योतक है। इसमें सन्देह नहीं कि इनका साहस, उत्साह और अद्भुत कर्मशीलता प्रत्येक भारतीय के लिए आज गर्व की वस्तु बन गया है।

रेडन एडजंग कार्तिनी

जन्म तिथि : २१ अप्रैल, १८७६
जन्म स्थान : इण्डोनेशिया
मृत्यु तिथि : २१ अप्रैल, १९०४
मृत्यु स्थान : इण्डोनेशिया

किसी भी देश या राष्ट्र के पुनरुत्थान में उन महान् विभूतियों का स्थान सर्वोपरि माना जाता है जो जन-संस्कृति की ज्योति को प्रदीप्त करने के लिए अपने जीवन का बहुमूल्य भाग लगा देती हैं। इंडोनेशिया की महिला रेडन एडजंग कार्त्तिनी ऐसी ही व्यक्तियों में से थीं। इण्डोनेशिया में ही नहीं, वरन् विश्व इतिहास में रेडन एडजंग कार्त्तिनी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा, क्योंकि मानवता की सच्ची प्रतीक और अपने देश एवं देशवासियों के हितचिंतन में वे सदैव तत्पर रहती थीं।

कार्त्तिनी का जन्म २१ अप्रेल, सन् १८७९ को एक उच्च घराने में हुआ था। उनके पिता जापरा के रीजेण्ट और एक सम्मानित व्यक्ति थे। उस समय की परिस्थितियों में घोर सामाजिक बंधनों के कारण नारी उपेक्षिता समझी जाती थी और उसे पढ़ाना, लिखाना निषिद्ध था। प्रारम्भ से ही बालिका कार्त्तिनी की पढ़ने की ओर विशेष अभिरुचि थी, किन्तु संकीर्ण विचारधारा के कारण उनके माता-पिता उन्हें बहुत अधिक नहीं पढ़ा सके और बारह वर्ष की अवस्था में ही वे स्कूल से हटा ली गईं। वे अत्यन्त कुशाग्र-बुद्धि और अध्ययन-शीला थीं। पढ़ाई छोड़ने से उन्हें अपार वेदना हुई और वे मन ही मन अत्यंत उदास और चिंतित रहने लगीं। एकान्त-चिंतन के क्षणों में घर के किसी निर्जन कक्ष में बैठी हुई वे निरन्तर कोई न कोई ऐसा उपाय सोचती रहती थीं जो उनके सूने जीवन-पथ में प्रकाश की रश्मियाँ बिखेर सके। उन्होंने पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की सहायता से अपने अध्ययन को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया, किन्तु उनकी ज्ञान-लिप्सा किसी प्रकार भी शान्त नहीं हुई। वे उन मूलतत्त्वों को ग्रहण करना चाहती थीं, उन साधनों को जुटाने की आकांक्षा रखती

थीं, जो उनके जन-सेवा-कार्य को सम्पन्न बनाने में समर्थ हों। पुरुषों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का स्वप्न देख रही थीं औ नारियों में बौद्धिक-विकास, उदात्त-भावना, शिक्षा और साक्षरता व प्रचार करने की इच्छा रखती थीं, किन्तु उनके हाथ-पैर तो स्वयं ह बँधे थे। वे दूसरों का हित कैसे करतीं ? उन दिनों इण्डोनेशिया प्रतिष्ठित परिवार अपनी कन्याओं को बाहर भेजने में हिचकिचा थे। कार्त्तिनी अपने माता-पिता को अत्यधिक प्रिय थीं। वे भी उनक स्नेह एवं सम्मान की दृष्टि से देखती थीं। अतएव अपने माता-पिता क धक्का पहुँचाना उन्हें सह्य न था।

अपने इस मानसिक ऊहापोह, अंतर्द्वन्द्व को एक सखी के प में व्यक्त करती हुई वे लिखती हैं :

"भगवन् ! मेरा मन भ्रमित है। मैं समझ नहीं पा रही हूँ वि आखिर कर्त्तव्य क्या है। आत्म-समर्पण यदि कर्त्तव्य है तो क्य आत्म-निर्भरता कर्त्तव्य नहीं ? और यदि दोनों एक हैं तो इतना वैषम्य कैसा ? एक ही 'कर्त्तव्य' नाम से पुकारी जाने वाली दो वस्तुओं मे इतना विरोध कैसे सम्भव हो सकता है ?"

उन्हें यदा-कदा यह अन्तर्ध्वनि सुनाई पड़ती, "ठहर, अपने उच्चादर्शों एवं महत्त्वाकांक्षाओं को उनके चरणों में समर्पित कर दे जो तुझे प्यार करते हैं और जिन्हें तू प्यार करती है। यह संघर्ष, यह अंतर्द्वन्द्व ही तेरे जीवन-पथ को आलोकित करेगा। ठहर, आगे मत बढ़ !"

किन्तु दूसरे ही क्षण और भी जोरों से उन्हें यह अंतःप्रेरणा होती, "उठ, अपने आदर्शों को समझने की चेष्टा कर। भविष्य की ओर देख। उन पददलित, अंधकार में पड़े हुए लोगों की सहायता कर जो भले-बुरे के मिथ्यात्व में पड़े हुए कष्ट भोग रहे हैं। चल। ०। आगे बढ़। जन सेवा के लिए कटिबद्ध हो जा और संघर्ष कर। ५२ में कुछ ऐसा कार्य करके दिखा जिससे तेरा नाम सदैव के लिए अमर हो जाय।"

कार्त्तिनी सोचतीं—कौनसी बात मानूँ ? कौनसा कर्त्तव्य श्रेष्ठ है ? आत्म-समर्पण अथवा आत्म-निर्भरता ?

रेडन एडजंग कार्त्तिनी

इस प्रकार वे असमंजस में पड़ी रहतीं और उनके मन में सदैव दुविधा बनी रहती। संयम, धैर्य और सहिष्णुता की साक्षात् प्रतिमा होते हुए भी उनके हृदय में प्रेम का बहता हुआ स्रोत-सा उमड़ता रहता। घर की चहारदीवारी में बन्द उनकी आत्मा दीन-हीन, आकुल प्राणियों की सेवा के लिए तड़पती रहती। किन्तु साथ ही वे उन प्रियजनों की आत्मा को भी दुखाना नहीं चाहती थीं जो उनको प्रेम करते और उनके लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को सन्नद्ध रहते थे। उनके माता-पिता अपनी पुत्री की इस अंतर्व्यथा को समझते थे, उनकी उदात्त-भावनाओं का आदर करते थे। किन्तु वे उन्हें कोई भी ऐसा कार्य करने की आज्ञा नहीं देते थे जो उन्हें जनता की नज़रों में गिराने में सहायक होता। एक बार कार्त्तिनी की माँ ने जब सेवा-कार्य की कठिनाइयों एवं असुविधाओं की ओर संकेत किया तब उन्होंने मधुर वाणी में उत्तर दिया :

"माँ! मैं भलीभाँति जानती हूँ कि जिस मार्ग को मैंने अपनाया है वह कंटकाकीर्ण और दुर्गम है। वह ऊबड़-खाबड़, पथरीला, दुरूह और टेढ़ा-मेढ़ा है। इस कठिन और अगम्य पथ पर कदाचित् मेरे पाँव फिसल जायँ, मैं गिर पड़ूँ और बीच में ही खत्म हो जाऊँ। किन्तु मेरी माँ! तू ज़रा सोच तो, मुझे कितनी प्रसन्नता होगी, मेरी आत्मा स्वर्ग में भी हँसेगी, प्रफुल्लित होगी कि मैंने अपने प्राण उन सत्सिद्धान्तों और महान् आदर्शों का पालन करने में विसर्जित किए जिनके लिए मैं प्रारम्भ से संकल्प कर रही थी। कम से कम उन लड़कियों के पिता जो आज़ाद तो होना चाहते हैं किन्तु संकोचवश अपनी कन्याओं को बाहर जन-कार्यों के लिए भेज नहीं सकते, यह सोचकर पश्चात्ताप तो नहीं करेंगे कि दुर्भाग्य से कोई भी तो इनमें ऐसी पैदा नहीं हुई जो आगे बढ़कर कुछ कार्य कर सकने में समर्थ होती।"

कार्त्तिनी का हृदय एक अथाह समुद्र की भाँति था। उनकी सैद्धान्त-निष्ठा, दलितों और पीड़ितों के लिए उनका अपार-प्रेम और सहानुभूति, आर्त्त मानवता के त्राण के लिए उनका सतत प्रयास उनका मुख्य कर्त्तव्य बन गया था। आत्ममंथन, चिंतन, वेदना उनके जीवन

के चिरसंगी थे। व निरंतर चिंतित रहतीं। उनके मस्तिष्क में उथल-पुथल सी मची रहती। दिल में एक धड़कन सी होती; एक बेकली, असंतोष, दुश्चिन्ता कि वे आखिर कैसे आगे बढ़ें। वे चाहती थीं कि वे कोई बहुत बड़ी चिकित्सक, शिक्षिका या लेखिका बनें, किन्तु उसी क्षण उन्हें अंतःप्रेरणा होती, "ठहर, कुछ दिन प्रतीक्षा कर! स्त्रियों की ये परतन्त्रता की बेड़ियाँ स्वयमेव टूटेंगी। वह समय बहुत पास है, भावी को कोई मिटा नहीं सकता, विजय अवश्यम्भावी है। पर शायद तब तक तू जीवित न रहे। कोई चिन्ता नहीं, यह क्या कुछ कम प्रसन्नता की बात है कि तू उस रास्ते को साफ़ कर रही है—सबका पथ-प्रदर्शन कर रही है।"

कार्त्तिनी ने अपनी दो बहनों की सहायता से लड़कियों के लिए स्कूल खोले और शिक्षा का प्रचार किया। परम्परा की शृंखलाओं में बंधी हुई भी वे अपनी लेखनी के सहारे बहुत कुछ करने में समर्थ हुईं। उनका कार्यक्षेत्र दिन-दिन व्यापक होता गया और उनका अब तक का संचित अध्ययन एवं गम्भीर चिंतन एक सचेष्ट, शक्तिशाली और निर्भीक कलम से अबाध गति से फूट पड़ा। उनकी अभिव्यक्ति में एक प्रबल आवेग था और हृदय की आकुल भावना में कार्य करने की अद्भुत क्षमता। किन्तु दुर्भाग्यवश उन्हें लिखने तक की स्वतन्त्रता न थी। वे उस परवश पक्षी की भाँति थीं जो पर फड़फड़ा कर विवश हो तड़प रह जाता है।

उनकी बलवती इच्छा थी कि वे विदेशों में जाकर पढ़ें। उनके माता-पिता ने योरप जाने की अनुमति भी उन्हें दे दी थी, पर कुछ डच मित्रों ने इसका घोर विरोध किया और वे बाहर न जा सकीं। दूसरा अवसर आया। जैकार्त्ता में जाकर पढ़ने की उनकी पूरी तैयारी हो गई, पर अकस्मात् उन्हें अपने भावी-सम्बन्ध की सूचना मिली और अति-
- ही रेम्बंग के रीजेन्ट से उनकी विवाह-तिथि निश्चित हो गई।
झुका कर कार्त्तिनी ने गुरुजनों की आज्ञा शिरोधार्य की। उस समय अपनी सखी को भेजे हुए एक पत्र में वे लिखती हैं:

"ईश्वर बड़ा दयालु है। वह जो कुछ करता है उसमें जीव का कल्याण ही निहित है। अपने वैवाहिक-जीवन में कदाचित् मुझे और

भी सेवा का सुअवसर मिले । विवाह होने से कुमारी-अवस्था
प्रतिबन्ध तो हट जायँगे और मैं अपने पति के सहयोग से बहुत कु
करने में समर्थ हो सकूँगी ।"

प्रत्येक परिस्थिति में कार्त्तिनी संतोष का अनुभव करती थीं
विगत बीस वर्षों के कठोर संयम और एकांत-साधना ने उनमें आत्मब
और कष्ट-सहिष्णुता उत्पन्न कर दी थी । उनका जीवन निःशेष आत्मदा
की भव्य दीप-शिखा के रूप में प्रज्वलित था, जिससे तेज की चिन
चिनगारियाँ फूटती रहती थीं ।

यथासमय कार्त्तिनी का विवाह सम्पन्न हुआ । एक वर्ष बीत
भी नहीं पाया था कि उन्होंने एक पुत्र को जन्म दिया और उसके च
दिन पश्चात् ही उनकी मृत्यु हो गई । उस समय उनकी अवस्था केव
२५ वर्ष की थी । जिस असाधारण प्रेम, सद्भावना, सहानुभूति औ
कोमल भावनाओं को लिए हुए वे पृथ्वी पर अवतीर्ण हुई थीं, उन्हीं
हृदय में सँजोए हुए वे वापिस चली गईं । उनके भाग्य में पुत्र-सुख त
न बदा था । वात्सल्य का अजस्र स्रोत उनके भीतर प्रवाहित हो र
था । वे तो समस्त मानवता के लिए मातृ-भावना लेकर आई थीं, किन
जब वे अपने बालक की वास्तविक मां बनीं तो यह सुख-सौभाग्य
उनसे छीन लिया गया ।

रेडन एडजंग कार्त्तिनी विश्व की उन महान् नारियों में से थ
जो सत्य की प्रज्वलित अग्नि-शिखा बनकर जीवित रहीं और मानव
के कल्याण का मार्ग आलोकित कर गईं । वे उस आत्मवेदना की ध
थीं, जिस में समस्त मानवता की करुणा पुंजीभूत हुई थी । वे क
भी लोक-कल्याण और व्यक्तिगत स्वार्थ की समस्या को लेकर न
उलझीं । उनके अंतर की प्रीति और सहानुभूति के विशाल अंचल
विश्व-प्राण का स्पन्दन जागृत था ।

उन्होंने इण्डोनेशिया के नारी-आन्दोलन का पथ-प्रदर्श
किया, चिर-सुप्त देशवासियों में शक्ति और स्फूर्त्ति भरी तथा अप
आत्म-बल एवं दृढ़ इच्छा-शक्ति से जीवन की विकृति को मानवता
शुद्ध सोने के रूप में परिणत कर दिखाया । इण्डोनेशिया की धरती
जन्म लेकर, इण्डोनेशिया की इस विद्रोही महिला ने अपने दिव

प्रकाश की तीक्ष्ण रश्मियों से सभी अंधकार छिन्न-भिन्न कर दिया और आने वाली पीढ़ियों के लिए एक नया प्रकाश बिखेरा।

उनके पत्रों का संग्रह पुस्तक रूप में मिलता है, जिसका नाम है "अंधकार से प्रकाश की ओर"। इस पुस्तक में उनके अंतरात्मा के दर्शन होते हैं, उनका बौद्धिक प्रकाश चमकता दृष्टिगत होता है। १६ वर्ष की अवस्था में उन्होंने ये शब्द कहे थे :

"हम जानते हैं कि भविष्य की आड़ में क्या छिपा है—वेदना, निराशा, संघर्ष। जो मार्ग हमने चुना है वह पुष्पमय नहीं, कंटकाकीर्ण है, विषम और अगम्य है, किन्तु यह तो हमने स्वेच्छया अपनाया है। हमने दया और परहित भावना से प्रेरित होकर इसे चुना, अतएव हम बड़ी खुशी और उत्साह से इसका अनुसरण करेंगे। उस मार्ग पर चलने से हम कैसे इन्कार कर सकते हैं जो हज़ारों को स्वतन्त्रता और सुख की ओर उत्प्रेरित करता है, जो व्यक्ति के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाता है और जो समस्त मानवता का हित करने में समर्थ है।"

जीवन की अंतिम सांस तक कार्त्तिनी अपने लिए नहीं, वरन् दूसरों के लिए चिंतित रहीं। अपने सिद्धान्त की वलिवेदी पर उन्होंने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया था। वे जो कुछ सोचती या करती थीं, वह लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर ही। उनके भीतर का तकाज़ा अधिक दुर्दम्य, कठोर और आत्म-वेदना से आलोड़ित था। इस बात को वे भलीभाँति समझती थीं कि उनकी साधना जितनी ही कठोर होगी, उनकी विजय भी उतनी ही प्रबल होगी।

सत्य, त्याग और तपस्या की मूर्त्तिमान् प्रतीक कार्त्तिनी की अमर-गाथा उनके अपने देश में ही नहीं, वरन् सारे विश्व में परिव्याप्त है। इण्डोनेशिया में इस दिव्य नारी-रत्न की पुण्य-स्मृति में वर्ष २१ अप्रैल को एक उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है।

श्रीमती एलीनर रूज़वेल

जन्म तिथि : ईस्वी सन् १८८४
जन्म स्थान : न्यूयॉर्क (अमेरिका)

श्रीमती एलीनर रूज़वेल्ट

न्यूयॉर्क में रूज़वेल्ट की अधिकृत भूमि में स्थित हाइड-पार्क की एक निर्जन एकान्त कुटिया में बैठी हुई अमरीका की सबसे प्रख्यात नारी श्रीमती एलीनर रूज़वेल्ट राजनैतिक एवं सामाजिक जनान्दोलनों में अब भी उसी उत्साह और तत्परता से भाग लेती हैं, जैसा कि विगत बारह वर्षों में ह्वाइट हाउस के प्रवास में वे प्रेज़ीडेण्ट रूज़वेल्ट के समक्ष लेती थीं। ६५ वर्ष की वृद्धा होते हुए भी उनमें बालकों की सी गतिशीलता एवं कार्य करने की अद्भुत क्षमता है। उनकी दृढ़ इच्छा-शक्ति, जागरूक अन्तश्चेतना, शुद्ध मनोबल, अदम्य उत्साह एवं साहस पर सारा संसार श्रद्धानत है।

सन् १८८४ में इनका जन्म न्यूयॉर्क में एक सुसंस्कृत, समृद्ध और प्रतिष्ठित घराने में हुआ था। इनका बचपन बहुत ही लाड़-प्यार से बीता। इनके पिता प्यार में इन्हें 'लिटिल नेल' अर्थात् छोटी नेल के नाम से पुकारा करते थे। इन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में अपनी त्रुटियों और बिगड़ी आदतों को बहुत ही निर्भीक और स्पष्ट शब्दों में लिखा है। ये संयुक्त-राष्ट्र के दूसरे प्रख्यात प्रेज़ीडेण्ट, जिनका नाम भी इनके पति की भांति ही थियोडर रूज़वेल्ट था, की भतीजी हैं। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा इंग्लैंड के प्राइवेट स्कूलों में हुई। तत्पश्चात् इन्होंने समस्त यूरोप का भ्रमण करके यूरोपियन संस्कृति के दो प्रमुख देशों इटली और फ्राँस के साहित्य, कला और भाषाओं का विधिवत् अध्ययन किया। उन्नीस वर्ष की अवस्था में इनका विवाह-सम्बन्ध फ्रैंकलिन डीलेनो रूज़वेल्ट से निश्चित हुआ। अभी तक युवक रूज़वेल्ट ने कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया था। सन् १९०५ में ये दोनों विवाह-सूत्र में बँध गए। इनके पाँच पुत्र और एक पुत्री हुई, जिनमें से इनके चार पुत्र आजकल अमेरिका के सैनिक-विभाग के उच्च पदों को सुशोभित कर रहे हैं।

सार्वजनिक कार्य और राजनीति श्रीमती रूज़वेल्ट के लिए सहज वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाओं का खिलवाड़ नहीं हैं, प्रत्युत दूसरों के लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का त्याग, उनका अद्वितीय धैर्य और अपरिमित कष्टसहिष्णुता अपना सानी नहीं रखता। १२ अप्रैल, सन् १६४५ में प्रेज़ीडेण्ट रूज़वेल्ट की मृत्यु के पश्चात् जब ह्वाइटहाउस का इन्होंने सदैव के लिए परित्याग किया था तो इन्होंने विभिन्न जन-कार्यों और अपने व्यस्त जीवन से घबरा कर मुख नहीं मोड़ा था। इसके पश्चात् तो इनका कार्य-क्षेत्र और भी व्यापक होता गया और सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में इन्होंने वह आशातीत प्रगति की, जिससे न केवल अमेरिका की संस्कृति की श्रेष्ठता पुनःस्थापित हुई, वरन् अन्य देशों की महिलाओं को भी नवीन स्फूर्ति, बल एवं प्रेरणा मिली। इन्होंने लिखने, व्याख्यान देने, दलितों-पीड़ितों की सहायता और सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं को दूर करने में अपना अधिकाधिक समय लगाया। मकानों की समस्या, माता और बालक का संरक्षण, जनता के स्वास्थ्य और शिक्षण का सुप्रबन्ध, व्यावसायिक कुचक्रों को दूर करने के उपाय, श्रम-समस्याएँ, ग्रामोन्नति, युवक-आन्दोलन, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और घरेलू उद्योग-धंधों को समुन्नत बनाने की प्राणपण से चेष्टा की।

श्रीमती रूज़वेल्ट एकाग्र-निष्ठा और मेरु-अटल निश्चय की महिला हैं। इनके कर्मठ जीवन का प्रभाव समस्त विश्व की महिलाओं पर पड़ा है। अमेरिका की इन्होंने जो सेवा की है, उसका मूल्य आँका नहीं जा सकता। उन्होंने अपने देश की जनता में साहस और पौरुष का संचार किया, उन्हें अनुशासन और कर्तव्य-पालन की शिक्षा दी, उनकी महान् शक्ति को जगाया, आदर्श के लिए प्रसन्नता से बलिदान हो जाने की प्रेरणा दी और नम्रता के साथ मस्तक ऊँचा रखना सिखाया। इनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने [अ]पने पति के पदचिह्नों का अनुसरण करके मनुष्यों को एक नई [illegible]ी दीक्षा दी। जब से प्रेजीडेण्ट रूज़वेल्ट ने अमेरिकन राजनीति में पैर रक्खा था, तब से उनकी व्यस्तता का अनुमान लगाना कठिन ही नहीं असम्भव प्रतीत होता था। राजनीति अथवा राष्ट्र का कार्य करना उनके जीवन का व्यसन न रह कर जीवन की सचाई बन गया

था। कोमलांगी एलीनर के लिए रूज़वेल्ट की पत्नी बनना एक महँगा सौदा था, जिसके लिए अपूर्व साहस, धैर्य, त्याग और कष्ट सहन करने की अत्यन्त आवश्यकता थी। किन्तु इनकी पति-भक्ति और दृढ़ इच्छा-शक्ति ने इनके दुर्बल हृदय को सबल बनाया और ये अपने लौह-पुरुष पति के साथ कार्य-क्षेत्र में उतर पड़ीं। जिस प्रकार रूज़वेल्ट ने राजनीति के उलझे हुए जंगल में नई पगडण्डियों का निर्माण किया और अपने चतुर्दिक वातावरण में साहस और निर्भयता का मंत्र फूँका, उसी प्रकार ये भी परिणाम की बिना परवाह किये अपने युग के प्रत्येक प्रधान कार्य में लग गईं। विचार, भाषा, वेशभूषा, संस्था, समाज, अधिकार और कर्त्तव्य हज़ारों क्षेत्रों में इन्होंने नए-नए पथों का निर्माण किया। मानवता की कठिन साँसों में साँसें डाल कर जीने की परम योगसिद्धि इनके संवेदनशील हृदय में जन्म से ही निहित थी, अतएव जीवन की जटिल पगडंडी पर दृढ़ और निर्भीक चरण धरती हुई ये बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ती रहीं।

अपने पति के जीवन-काल में बारह वर्ष तक ह्वाइटहाउस में रह कर एलीनर रूज़वेल्ट ने जो अपनी बहुमुखी-प्रतिभा और कार्य-क्षमता का परिचय दिया, वह अपूर्व है। प्रतिक्षण ये अपने व्यस्त पति की सेवा में तत्पर रहती थीं। ह्वाइट हाउस में आने वाले व्यक्ति सुन्दरी, सुकुमारी एलीनर की मधुर मुस्कान और उनका प्रेम-भरा आतिथ्य बहुत दिनों तक भी भूलते न थे। स्कूली बच्चे, सैनिक, मल्लाह, क्लब की औरतें, सरकारी कर्मचारी, विद्यार्थी और विदेशी अतिथि सभी श्रीमती रूज़वेल्ट के प्रेम भरे व्यवहार पर मुग्ध हो जाते थे। उनके यहाँ ऊँच-नीच, गरीब-अमीर, छोटे-बड़े का भेदभाव न था। सम्राट् जॉर्ज और साम्राज्ञी एलिजाबेथ, नीदरलैंड की रानी विलहेल्मिना, नार्वे, स्वीडन और डेनमार्क के सम्राट् और साम्राज्ञी, चीन की मैडम च्यांग-काई-शेक आदि विशिष्ट अतिथियों का जिस प्रकार दिल खोल कर स्वागत किया जाता था, उसी प्रकार निष्कपट भाव और उन्मुक्त हृदय से वे एक साधारण व्यक्ति को भी सम्मान देती थीं।

इनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि व्यवहार में अत्यन्त नम्र और विनयी होते हुए भी वे शासन-शक्ति से सम्पन्न हैं और उन्हें अपनी यह शक्ति ज्ञात है। उनकी शान्त, गम्भीर मुख-मुद्रा

मनुष्य को मोह लेती है और उसके अन्तर को धीरे-धीरे टटोल डालती है। उनकी स्पष्ट वाणी हृदय में उतर कर भावनाओं को जगा देती है। वे चाहे एक से बातें करती हों अथवा सहस्रों से—उनकी वाणी की मोहिनी श्रोता पर छा जाती है और प्रत्येक यह अनुभव करने लगता है कि वक्ता से उसका निकट सम्पर्क स्थापित हो गया है।

श्रीमती रूज़वेल्ट अमेरिका की सबसे अधिक भ्रमणशील और अध्ययनशील महिला हैं। युद्ध के सात वर्षों के भीतर विभिन्न कार्यों को करने की गरज़ से इन्होंने सैकड़ों-हज़ारों मील का लगातार दौरा किया है। कदाचित् विश्व की किसी भी नारी ने एक ही साथ इतने सुन्दर और असुन्दर स्थानों का अवलोकन न किया हो। कभी तो किसी रमणीक, सुसज्जित स्थान में जाकर वे प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेती थीं और कभी कष्ट और दुःखों से जर्जरित अनाथालयों, गरीबालयों, कारखानों और खानों का निरीक्षण करती थीं।

इसके अतिरिक्त उन्होंने बहुत से लेख, निबन्ध और पुस्तकें लिख कर अपनी प्रतिभा, पैनी अन्तर्दृष्टि और उच्च-कोटि की सृजन-शक्ति का भी परिचय दिया है। ह्वाइट-हाउस के प्रवास में अपने प्रथम सात वर्षों में इन्होंने ५१ लेख बेचे, तीन पुस्तकें लिखीं, दो अन्य पुस्तकों की रूप-रेखा तैयार की और दूसरे लेखकों की पुस्तकें प्रकाशित कराने में सहायता दी। अमेरिका के एक विशिष्ट पत्र के कॉलम में ये अपने प्रतिदिन की दिनचर्या लिखती हैं, जिससे कि लाखों, करोड़ों व्यक्ति इनके विचारों से परिचित हो गये हैं। वे बहुत से पत्र-पत्रिकाओं के लिये लेख देती हैं, जो अधिकतर चलती ट्रेन, होटल, रेडियो-भाषण या बहुत थोड़े से अवकाश में तैयार किये हुए होते हैं। इसके अतिरिक्त अमेरिका की महिलाओं से इनका पत्रों द्वारा बहुत बड़ा सम्बन्ध है। विगत कई वर्षों से स्त्रियाँ इनसे सभी तरह के व्यक्तिगत, राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय ढंग के प्रश्न पूछती हैं। उनके पास लगभग आठ सौ प्रतिदिन आते हैं। एलीनर रूज़वेल्ट को सभी बहुत निकट से नते हुए से प्रतीत होते हैं। अमेरिका की जनता पर उनकी पकड़ और उनकी मोहिनी अमोघ और अनोखी है।

श्रीमती रूज़वेल्ट का सम्पूर्ण जीवन कर्मण्यता, सतत साधना, और तपस्या का एक प्रेरणात्मक इतिहास है। वे कभी निराश, दुःखी

और अकर्मण्य हो कर नहीं बैठीं। प्रत्येक कर्म में वे विश्वात्मा के प्रति प्रेम का अनुभव करती हैं और प्रत्येक क्षेत्र को वे सेवामय बनाने की चेष्टा करती हैं। यही कारण है कि वे नित्य सजग और सावधान रह कर जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करती हैं। उनका जीवन नियमित, सादा और सरल है; सूई की भाँति इनके समस्त कार्य सधे हुए हैं। इन्होंने अपने मन और आत्मा को इतना अनुशासित कर लिया है कि वे प्रत्येक कार्य को बहुत सुन्दर ढंग और स्वाभाविक रीति से सम्पन्न करती हैं। इसमें किंचित् भी संदेह नहीं कि अपनी अथक कार्य-शक्ति के कारण वे जागरण की सजीव प्रतिमा सी प्रतीत होती हैं। सौभाग्य से इनका स्वास्थ्य भी सदैव अच्छा रहा और शरीर भी सबल और सशक्त बना रहा। कार्यों की बहुलता में इनके विश्राम और आमोद-प्रमोद के क्षण भी बहुत विचित्र होते हैं। अपने पौत्र-पौत्री के साथ टेनिस खेलकर और घोड़े पर चढ़कर वे बड़ी खुश होती हैं। वे एक अच्छी तैराक भी हैं और ग्राम्य-जीवन तथा प्राकृतिक दृश्यों को बहुत अधिक पसन्द करती हैं।

श्रीमती रूज़वेल्ट अत्यन्त दानशील और उदार प्रकृति की हैं। अन्धे, अपाहिज और बेकार मनुष्यों की तथा अनाथ और निराश्रित बालक-बालिकाओं की सहायता करने में वे हज़ारों रुपये व्यय करती हैं। अमेरिकन-राष्ट्र और उसकी निर्धन, निस्सहाय जनता के स्वास्थ्य, शिक्षण और सुरक्षा के लिये इनका तन, मन, धन न्यौछावर है। कहना न होगा कि इन्होंने मानव-जाति के आध्यात्मिक और नैतिक उत्थान में अपना जीवन लगा दिया है।

युद्ध के दिनों में इन्होंने अपने देशवासियों की असंख्य सेवायें की हैं। इन्होंने उन दिनों केरीबन, ग्रेट-ब्रिटेन, स्कॉटलैण्ड और न्यूज़ीलैण्ड का दौरा करके विभिन्न स्थानों में नियुक्त अमेरिकन फौजों का निरीक्षण किया, अस्पतालों की देख-भाल की और दूसरे देशों में तैयार किये हुए लड़ाई के सामान को देखा और समझा। कभी-कभी यातायात की असुविधा होने से वे आम जनता के साथ सफ़र करती थीं। इनके बारे में प्रसिद्ध है कि एक बार न्यूयॉर्क से लौटते हुए वे एक सैनिक के सूटकेस पर बैठ कर आई थीं।

किन्तु श्रीमती रूज़वेल्ट की सबसे प्रिय अभिलाषा संयुक्त राष्ट्र-संघ को पनपते देखने की है। विश्व में शांति-स्थापना का इनका अधूरा स्वप्न, समस्त मानवता को एकता के सूत्र में बाँधने का इनका सतत प्रयास संयुक्त राष्ट्र-संघ के उद्देश्यों का पोषक है। विश्वभर में ये ही सर्व-प्रथम ऐसी महिला थीं, जिन्हें जनवरी, सन् १९४६ में लन्दन में होने वाले संयुक्त राष्ट्रों के प्रथम सम्मेलन में प्रेज़ीडेंट ट्रूमैन ने अमरीका की ओर से नेत्री निर्वाचित करके भेजा था। उस समय लन्दन जाते हुए ट्रेन में इन्होंने निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी थीं :

"संयुक्त राष्ट्र-संघ की सफलता एवं असफलता पर ही हमारी सभ्यता की बुनियाद कायम है। यू० एन० ओ० का संस्थापन ही हमारा आज का प्रमुख उद्देश्य है, क्योंकि इसी पर ही विश्व के संरक्षण का भार है।"

असेम्बली में इनकी योग्यता, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की जानकारी और वाक्-पटुता देख कर एक साथी सदस्य ने इनके सम्बन्ध में कहा था :

"श्रीमती रूज़वेल्ट के कार्य सम्मेलन के कमरे की परिधि में ही समाप्त नहीं होते, वरन् इनकी सलाह एवं पथ-प्रदर्शन तो हर समय वांछनीय है।"

श्रीमती रूजवेल्ट मानवीय-अधिकारों के कमीशन की प्रतिनिधि चुनी गई थीं। इस कमीशन के प्रमुख उद्देश्य विश्वव्यापी प्रेम, मानवीय अधिकारों की सुरक्षा, शांति-संस्थापन, भाषा, धर्म, जाति और देश का भेद-भाव किए विना सभी को समान भाव से देखना और मानव-समुदाय को प्रेम और भ्रातृत्व का सन्देश देना था।

श्रीमती रूज़वेल्ट में कर्त्तव्य-भाव उनके व्यक्तित्व के रोम-रोम का भाव कहा जा सकता है। उनके समक्ष मानों व्यक्तिगत-स्वार्थ अपना अस्तित्व ही खो बैठे हैं। वे नारीत्व के उच्च-शिखर पर आरूढ़ हैं। वे ग की एवं मानव-इतिहास की महान् अधिनायिका हैं।

कुमारी हेलन केलर

जन्म तिथि : २७ जून, १८८०
जन्म स्थान : तुसकुम्बिया, एला (अमेरि

कुमारी हेलन केलर

प्रख्यात अमेरिकन महिला कुमारी हेलन केलर आज विश्व की सबसे अद्भुत और विलक्षण नारी हैं।

२७ जून, सन् १८८० में अमेरिका के एक सम्पन्न परिवार में एक बालिका का जन्म हुआ। बालिका अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक थी। डेढ़ वर्ष की आयु तक वह अन्य बालकों की भाँति देख व सुन सकती थी और कुछ-कुछ बोलना भी सीख रही थी, किन्तु विधि की विडम्बना! अचानक वह भयंकर रोग से पीड़ित हुई और रोग ने उसके नेत्र, कर्ण और वाणी का अपहरण कर लिया। माता-पिता इस हतभाग्य बालिका के कारण अत्यन्त चिन्तित रहते थे। उनका हृदय उसकी असहायावस्था पर तड़पता था, किन्तु वे ऐसी बालिका का उपचार ही क्या करें, जो अंधी बधिर और मूक थी!

हेलन का जीवन मूक पशु से भी बदतर था। वह बहुत तेजी से बढ़ रही थी। छोटी-सी बालिका में विलक्षण प्रतिभा और अन्तश्चेतना थी। वह शीघ्र ही समझ गई कि अन्य बालकों से उसका जीवन भिन्न है। वह उनकी भाँति देख, सुन व खेल नहीं सकती। अपनी असमर्थता पर उसे खीज, चिड़चिड़ाहट और झुँझलाहट होती। यदि कोई उसके संकेतों को समझने में ग़लती करता तो वह क्रोध में उसके कपड़े फाड़ देती और बाल नोच लेती। उसकी मनःस्थिति अत्यन्त दयनीय थी। वह सभी की चिन्ता और परेशानी का कारण बन गई थी।

हेलन को अपनी गुड़िया से नितान्त प्रेम था। वह दिन भर उसे चिपटाये रहती थी। किन्तु वह अपनी छोटी बहिन से अत्यन्त घृणा करती थी, क्योंकि कोई भी उसे उससे खेलने नहीं देता था। एक दिन उसने अपनी छोटी बहिन को गुड़िया के पालने में सोते पाया। वह चिढ़ गई और उसने क्रोध में पालना उलट दिया। माता ने भाग कर

गिरती हुई बच्ची की रक्षा की। सभी उस चिड़चिड़ी, असमर्थ बालिका से भयभीत रहते थे। वह दूसरों को ही नहीं, वरन् अपने को भी हानि पहुँचाती थी। अपने शरीर पर दूध, पानी आदि गिरा लेती थी और जब उसे ठंड लगती तो अपने वस्त्रों को उतार कर अग्नि में फेंक देती। एक दिन वह स्वयं जलते-जलते बची। "कितना अच्छा होता यदि यह बदक़िस्मत आग में ही जल मरती !"—उसके एक निकट सम्बन्धी ने उस अवसर पर कहा था।

निराश होकर हेलन के माता-पिता ने बोस्टन नगर की अंध-विद्याशाला से एक शिक्षिका की याचना की। एनी में सफील्ड सलीवन नाम की अध्यापिका उन्हें प्राप्त हुई, मानों हेलन के अंधकारमय जीवन में प्रकाश-पुंज सी वह अवतरित हुई, जिसने कि उसके समस्त जीवन को आलोकित कर दिया। सलीवन स्वयं अत्यन्त निर्धन थीं और अठारह वर्ष की आयु में दृष्टिहीनता के रोग से पीड़ित हो चुकी थीं, किन्तु एक सफल ऑपरेशन द्वारा बीस वर्ष की आयु तक उन्होंने अपनी शिष्या के शिक्षण के लिए पर्याप्त दृष्टि-लाभ कर लिया था।

एनी सलीवन के स्नेह एवं सहानुभूति भरे व्यवहार ने हेलन के जीवन में चमत्कार भर दिया। बालिका की विलक्षण प्रतिभा फलीभूत हुई। वह शनैः-शनैः अंधकार से प्रकाश में आने का मार्ग खोज रही थी। कार्य अत्यन्त कठिन एवं दायित्वपूर्ण था। किस प्रकार अंधी, बधिर और मूक बालिका में चेतना भरी जाए ? उसे कैसे सुयोग्य एवं सुशिक्षित बनाया जाए ? किन उपायों एवं तरीकों से उसमें जिज्ञासा एवं आत्म-प्रेरणा का संचार हो ? सभी बातें विचारणीय और परिश्रम-साध्य थीं, किन्तु सलीवन ने आखिर मार्ग ढूँढ ही लिया। उन्होंने दूसरे ही दिन हेलन की हथेली में Doll (डॉल) शब्द लिखा जो उसकी प्यारी गुड़िया के नाम का सूचक था। हेलन को यह उंगलियों का खेल बहुत पसन्द आया और वह प्रसन्नता से उछलती हुई अपनी माँ के [illegible] गई और उसके हाथ में भी वही शब्द लिखा। उस समय हेलन [illegible] ह विदित नहीं था कि वह उसकी प्यारी गुड़िया का नाम है। दो-चार दिन के प्रयत्न से ही वह समझ गई कि प्रत्येक वस्तु का [illegible] होता है और धीरे-धीरे वह बहुत-से शब्द सीख गई। उसकी शब्दों की भूख निरन्तर बढ़ती गई। नया ज्ञान, नई जानकारी उसके

हृदय में हिलोर भरती थी। वह सदैव कुछ न कुछ सीखने की आकांक्षा रखती और उसकी स्नेहमयी संरक्षिका अदम्य उत्साह से भरी उसे सिखाते न थकती। जब सौरभभरा मधुमास आया और प्रकृति के अणु-अणु में उन्माद और यौवन छा गया, पुष्प विकसित हो मुस्कराने लगे, वृक्ष, लताएँ और पत्रावलियों में हरियाली और सिहरन भर गई, पशु-पक्षी आनन्द-विभोर हो चहचहाने और खुशी के तराने गाने लगे, तब एनी सलीवन अपनी प्रिय शिष्या का हाथ पकड़े हुए घूम-घूम कर उसे सभी वस्तुओं के नाम का बोध कराती जाती थी और प्रकृति के अमर सन्देश को स्पर्श और शब्दों द्वारा उसके मस्तिष्क में भर रही थी। उस समय का वर्णन करते हुए हेलन केलर अपनी 'आत्मकथा' में लिखती हैं, "ज्यों-ज्यों मेरी ज्ञान-पिपासा बढ़ रही थी, दुनिया, जिसमें कि मैं रहती थी, मुझे अधिकाधिक आकर्षक और सुखमय प्रतीत होती जा रही थी।"

और इस प्रकार एनी सलीवन ने उसके लिए नया खज़ाना खोल दिया था। अन्ध-लिपि (Braille-उठे हुए अक्षरों) में लिखी हुई जो भी साहित्यिक पुस्तकें उन्हें प्राप्त होती थीं, वह हेलन को पढ़ने के लिए देती थीं। नवीन भाव, नवीन विचार, नवीन शब्द, कहानी, लेख, कविताएँ, महान् कलाकारों की कलाकृतियाँ और साहित्यिक रचनाएँ पढ़कर हेलन निरन्तर ज्ञान-वृद्धि कर रही थी। उसकी सहज वृत्तियाँ सजग हो उठी थीं। उसके हृदय में अनन्त आनन्द-स्रोत उमड़ रहा था। एनी सलीवन ने कितने कष्ट, परिश्रम और अध्यवसाय से हेलन को पढ़ाया था—उसका वर्णन करना असम्भव है। कई बार उन्हें असफलता और निराशा होती थी, तो भी वे धैर्य और साहस से प्रयत्न करती रहीं। छः वर्ष की आयु में ही हेलन ने वस्तु-ज्ञान प्राप्त कर लिया था। नौ वर्ष की आयु में उसकी अटकी हुई ज़बान खुल गई और दसवें वर्ष उसने सभी अक्षरों और बहुत से शब्दों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। एक दिन अचानक वह बोल उठी, "आज गर्मी है", और उस समय हेलन को कितनी प्रसन्नता हुई थी, उसका वर्णन करती हुई वे अपनी 'आत्मकथा' में लिखती हैं : "उस दिन मेरे हृदय में जो आनन्द और उल्लास उमड़ा था, उतना कदाचित् ही किसी बालक के जीवन में कभी उमड़ा हो।" हेलन और दुनिया के बीच की दीवार ढह

चुकी थी। वह लगभग अन्य व्यक्तियों की भांति ही बोल सकती थी। अपनी संरक्षिका की कृपा से वह असहाय, निराश, शून्य जीवन की विभीषिकाओं से बच गई थी।

सन् १८९६ में हेलन ने एनी सलीवन के साथ कैम्ब्रिज-स्कूल में प्रवेश किया। एनी सलीवन क्लास में आवश्यक नोट्स ले लेती थीं और पुनः अपनी भाषा में हेलन को समझाती थीं। दो वर्षों में ही हेलन ने अंग्रेज़ी, जर्मन, फ्रेंच, लैटिन आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। बीस वर्ष की आयु तक वे इतनी सुयोग्य हो चुकी थीं कि कॉलेज में प्रवेश कर सकें। सन् १९०४ में, घोर प्रयत्न एवं परिश्रम के पश्चात्, उन्होंने विश्वविद्यालय की बी. ए. परीक्षा सर्वप्रथम श्रेणी में पास की। प्रोफेसर किटरिज के तत्त्वावधान में उन्होंने शेक्सपीयर और अन्य महाकवियों का अध्ययन किया। प्रोफेसर कोपलेण्ड नित्य ही हेलन को लिखने के लिए प्रोत्साहित करते थे, "मिस केलर! तुम अपने सम्बन्ध में कुछ कहने की आकांक्षा रखती हो। तुम्हें अपनी जीवनी लिखनी चाहिए।" हेलन ने उनके आदेशानुसार लेखनी उठाई और सात पुस्तकें लिखीं, जिनमें उनकी 'आत्मकथा' (The Story of My Life)' और 'मेरा अन्तर्जगत्' विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। स्वतः लिखी 'आत्मकथा' में हेलन की महान् आत्मा के दर्शन होते हैं। एक स्थल पर वे लिखती हैं, "अनन्त काल क्षेत्र में, चिरन्तन, दिव्य, रहस्यमयी शक्तियों के प्रति कौन अन्धा और बहरा नहीं है! मैं अन्तर्दृष्टि से परम प्रभु की अनन्त विभूतियों का दर्शन करती हूँ और उसके अमर संगीत को सुनती और अनुभव करती हूँ।"

अपनी पुस्तकों की आय पर निर्वाह करती हुई हेलन केलर एकान्त में रहकर एकान्त-साधना में लगीं। उनकी संरक्षिका ने पेड़ों की कतारों में तार बाँध दिए थे, जिन्हें पकड़ कर वे दूर, बहुत दूर, शून्य, र्जन स्थान में चली जाती थीं और आत्म-चिंतन में विभोर न जाने । सोचती थीं। प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में घूमते हुए हेलन को त्र सुख-सम्भूत आनन्द-रस की अनुभूति होती थी। वे संकेत ारा, उँगलियों को चलाकर अपने से ही बातें करती थीं और चिन्तन में इतनी तन्मय हो जाती थीं कि उन्हें अपने शरीर की भी सुधि नहीं रहती थी।

हेलन केलर अपंग होते हुए भी किसी से दया की भीख नहीं चाहतीं, वे दृष्टिहीन होकर भी दृष्टि वालों से अच्छी हैं, बहरी होकर भी अन्तर्वीणा की झंकार सुनती हैं। एक स्थल पर अपनी आत्मकथा में वे लिखती हैं, "यह सत्य है कि मैं वृक्षों के झुरमुट में से झाँकते हुए चन्द्रमा के दर्शन नहीं कर सकती, किन्तु मेरी उँगलियाँ जल की हिलोरों में अठखेलियाँ करती हुई चाँदनी की झलमलाहट को स्पर्श करती हुई-सी प्रतीत होती हैं।" वे आगे लिखती हैं, "प्रायः मैंने शीतल हवा के झोकों से बिखरे हुए कोमल पुष्प-पत्रों का शरीर पर अनुभव किया है, अतः मेरे विचार में सन्ध्या भी एक विशाल उद्यान की भाँति है, जिसमें से असंख्य पत्ते उड़कर समस्त आकाश में बिखरे हुए हैं।" आत्म-विस्मृति में विभोर एक स्थल पर वे पूछती हैं, "क्या कभी किसी ने वास्तविक दुनिया के दर्शन किए हैं?" और सबसे अधिक सुख, सबसे अधिक प्रसन्नता हेलन को होती है—पढ़ते हुए, "साहित्य ही मेरी खुशी की दुनिया है।" एक स्थल पर वे लिखती हैं, "मृत्यु के पश्चात् ही मुझे वास्तविक दृष्टि-लाभ होगा, अतएव चिरन्तन सत्य के दर्शन करने में मैं तब तक तत्पर रहूँगी जब तक कि मुझमें इतनी अंतश्चेतना जागृत न होगी कि जीवन और मृत्यु समान हैं।"

हेलन केलर तैरना, घुड़सवारी करना और नाव खेना भी जानती हैं। वे शतरंज और ताश भी कभी-कभी खेलती हैं। वे बहुत सुन्दर व्याख्यान देती हैं। ब्रेल-लिपि में बनाए टाइप-राइटर द्वारा लेख,पुस्तकें आदि लिखतीं हैं। उनकी स्पर्शेन्द्रिय इतनी संवेदनशील है कि गाने वाले के कण्ठ के किंचित् स्पर्श से ही वे गीत का आस्वादन कर लेती हैं, रेडियो को छूकर उसके परिकम्पन से ही सब कुछ सुनती हैं और हाथ मिलाते ही वे परिचितों को पहिचान लेती हैं तथा यह भी बता सकती हैं कि वे इस समय क्रोध में हैं अथवा आनन्द में। हेलन का कहना है कि उन्हें अपनी अन्धी होने का उतना दुःख नहीं है, जितना कि बहरी होने का, क्योंकि वे प्रेम के मानभरे शब्द सुनने से वंचित हैं। हेलन ने प्रेमानुभूति भी की है। एक बार एक युवक ने उनसे विवाह का प्रस्ताव किया था और उन्होंने प्रेमावेश में उसे स्वीकार भी कर लिया था। किन्तु दूसरे ही क्षण उन्हें अपनी वास्तविकता का बोध हुआ। विवाह, शारीरिक प्रेम, मातृत्व के दुःख-सुख भरे दायित्व के लिए उनके जीवन

का निर्माण नहीं हुआ था। हेलन को तो अपनी पुस्तकों और कल्पनाओं की दुनिया में ही सन्तुष्ट रहना अभीष्ट था।

हेलन को अपने जीवन में मित्रों और हितैषियों का बहुत सहारा रहा। एनी सलीवन की साधना और तपस्या ने तो उनके जीवन को ही बदल दिया था। इसके अतिरिक्त और भी उनके संरक्षक और सहायक थे। सुप्रसिद्ध लेखक मार्क ट्वेन ने सदैव हेलन में प्रेरणा और प्रोत्साहन भरा। वे अक्सर कहा करते थे, "हेलन ! यह दुनिया शून्य और अर्थहीन आँखों से भरी पड़ी है। तुम तो बहुतों से अधिक देखती और सुनती हो।"

हेलन केलर ने 'मिल्टन-अन्ध सोसाइटी' की स्थापना की है, जो ब्रेल-लिपि में साहित्यिक पुस्तकें तैयार करती है और विश्व के विभिन्न देशों में अन्धों के लिए मुफ्त प्रदान करती है। हेलन ने समस्त यूरोप की यात्रा की है और अपने व्याख्यानों द्वारा अन्धों को उन्नति-पथ पर अग्रसर होने का उत्साह दिया है।

जहाँ-जहाँ हेलन केलर गईं, उन्हें अत्यन्त श्रद्धा एवं समादर की दृष्टि से देखा गया। जब-जब वे समाचार-पत्रों में अपने विषय में पढ़ती थीं तो उन्हें आश्चर्य होता था, "मैंने समाचार-पत्रों से सर्व-प्रथम जाना कि मैं अन्धी, बहरी और गूँगी थी। मैंने प्रयत्न और परिश्रम से अपने को शिक्षित बनाया। अब मैं पढ़ सकती हूँ, बोल सकती हूँ, रंगों में भेद बता सकती हूँ, टेलीफोन के संदेशों को सुन सकती हूँ। मुझमें दैवी शक्ति है। मैं कभी दुःखी, चिन्तित और निराश नहीं होती तथा सदैव प्रसन्न और संतुष्ट रहती हूँ।"

बीसवीं शताब्दी के इस युग में हेलन केलर का जीवन अपूर्व और दैवी चमत्कारों से युक्त है। उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा एवं पुरुषार्थ से विश्व को चकित कर दिया है। आजकल ६८ वर्ष की वृद्धा होने पर भी वे विश्व-यात्रा के लिए निकली हुई हैं और विभिन्न देशों भ्रमण कर रही हैं।

श्रीमती पर्ल एस. बक

जन्म तिथि : २६ जून, १८६२
जन्म स्थान : हिल्सबोरो (वेस्ट वर्जिनिया)

श्रीमती पर्ल एस० बक

अमेरिका की महान् उपन्यासकार श्रीमती पर्ल एस० बक का जन्म हिल्सबोरो, वेस्ट वर्जिनिया में २६ जून, सन् १८९२ ईस्वी में हुआ था। इनके माता-पिता, जो मिशनरी थे, प्रायः अमेरिका से बाहर यूरोप में भ्रमण करते रहते थे, अतएव जब ये केवल पाँच महीने की थीं तभी उनके साथ चीन आ गईं। अपने अतीत संस्मरणों को लेखनीबद्ध करती हुई एक स्थल पर ये लिखती हैं :

"मैं एकाकिनी ही बड़ी हुई हूँ। जब मैं बहुत छोटी थी, तब चिंगकाँग नगर में यांगत्सी नदी के समीप एक पहाड़ी के शिखर पर निर्मित छोटे से बंगले में रहती थी, जहाँ से नदी का विस्तृत प्रसार, सुदूर नगर का मनोरम दृश्य और मुस्कराती प्रकृति की मूक-गरिमा दृष्टिगत होती थी। मेरे मकान के दूसरी ओर नीची-नीची पर्वत

श्रेणियाँ, सुरम्य, लहलहाती घाटियाँ, जिनके साथ एकाकार होती हुई उन्मुक्त गगन की दूर तक फैली हुई नीलिमा, उर्वरा भूमि पर इतस्ततः बिखरे सद्यःस्फुट सुमनों का सौरभ और कलरव करते पक्षियों की चहचहाहट तथा पास ही हरे-भरे बांसों के झुण्ड, जिनकी हरियाली और सघनता ने निकुंज का रूप धारण कर लिया था, समस्त वातावरण को अजीब मस्ती, सजीवता और विचित्रोन्माद से भर देते थे। जिस पहाड़ी पर हम रहते थे उसके ठीक नीचे एक विशाल, भव्य मन्दिर था, जिसके दक्षिण द्वार पर एक वृद्ध चिड़चिड़ा पुजारी बैठा रहता था। जब कभी मैं घूमती हुई भूल से द्वार तक पहुँच जाती थी तभी वह लम्बे बाँस से मारने की धमकी देता हुआ मुझे भगा देता था। मैं उससे सदैव भयभीत रहती थी।"

चीनी वातावरण में रहते-रहते बालिका पर्ल बक ने अंग्रेजी बोलने से भी पूर्व चीनी भाषा का अभ्यास किया। शनैः शनैः वे अपनी चीनी नर्स से इतनी अधिक हिलमिल गई कि उसकी विचार-धारा और भावनाओं ने उनके बाल-सुलभ कोमल हृदय को अनुप्राणित किया। नर्स के प्रति अपने प्रेम की भावुक घोषणा करती हुई अपने एक निबंध 'दि कंट्री जेंटिलमेन' (The Country Gentleman) में वे लिखती हैं :

"बाल्यावस्था की धुँधली स्मृतियों में जो दो सजीव मुखाकृतिय[ाँ] मेरी आंखों में तैर जाती हैं, वे हैं मेरी जननी और मुझे पालने वाल[ी] स्नेहमयी नर्स की ; दोनों ही एक दूसरे के पार्श्व में खड़ी हुई मुझ[में] सदैव प्रेरणा भरती रही हैं, किन्तु अपनी बिखरी स्मृतियों को जब [मैं] सरल विश्वास के सुकोमल धागे में पिरोने का प्रयास करती हूँ [तो] नर्स का यथार्थ-चित्र अधिक गहराई से मेरे मानस-पटल पर कौं[ध] जाता है।

"शैशव की अनगढ़, सामंजस्यहीन और दिन-प्रतिदिन [धुँ]धली वाली धुँधली रेखाओं के सजीव होने पर मुझे याद आ जाता [है] कि मैंने उसे आरम्भ से ही बहुत बूढ़ी देखा था। उसे बौद्ध और टा[ओ] महात्माओं से सुनी हुई इतनी कहानियाँ याद थीं कि जिनका अक्ष[य] भंडार कभी समाप्त न हो सकता था। प्रायः सभी बौद्ध-कहानियों

ऐसी आश्चर्यजनक तलवारों, नुकीली बर्छी, भालों का उल्लेख होता था जो अत्यन्त सूक्ष्माकार होकर मनुष्यों के कर्णछिद्रों अथवा आँखों के कोरों में समाहित हो जाती थीं और समय पड़ने पर चमचमाती हुई बाहर कौंध पड़ती थीं; अथवा वे कहानियाँ देव-दानवों, स्वर्ग-नरक की विभीषिकाओं एवं नियति-चक्र की अस्थिरता को बतलाती थीं। हरे-भरे बांसों की छाया में बैठकर मैं घंटों यही सोचा करती कि इन दूर वृक्षों के सघन झुरमुट, बड़ी-बड़ी चट्टानों, कन्दराओं और काले काले मेघों की कालिमा में प्रेत और राक्षस छिपे हैं, जिनके सिर सुदृढ़ लौह-शृङ्खलाओं से जकड़ दिए गए हैं, ताकि वे बच्चों को परेशान न कर सकें।

"जब मैं इन आश्चर्यजनक, जादू-भरे किस्से-कहानियों से ऊब जाती तो अपनी वृद्धा नर्स से साग्रह पूछती, 'अब मुझे यह बताओ, नर्स! कि तुम बहुत छोटी कब थीं?' यही प्रश्न कई बार मैं अपनी माँ और पिता से भी पूछ चुकी थी और उन्होंने मेरे अपने देश के वीरों और योद्धाओं की कहानियां सुनाई थीं—उस देश की, जिसे मैंने अपने स्थूल नेत्रों से कभी देखा न था। उससे भी दुगने उत्साह के साथ मैं अपनी नर्स की बाल्यावस्था की कहानियां, उसकी अतीत-स्मृतियों के सुख-दुःख भरे अनुभव, कैसे जब वह सरल शैशव की भोली-भाली, निश्छल बातों को अहर्निश सोचा करती और पुनः बचपन की चपल-क्रीड़ाओं को भूलकर उच्छल यौवनोन्माद से मदमाती वह विवाह की कल्पना करती हुई मंदिर में देवाराधन के लिए जाती, आदि, इस प्रकार की अनेकों बातें सुना करती और फिर उसका सहसा रुक जाना और कहना 'बस, आज इतना ही। अब जाओ और अपनी पुस्तक याद करो।'

"ऐसा ही उसका नित्यप्रति का क्रम था, क्योंकि यद्यपि वह स्वयं पढ़ना लिखना नहीं जानती थी तो भी उसे इस बात का बड़ा गर्व था कि मैं लड़की होकर भी अपने भाई के समान ही पढ़ लिख सकती हूँ। अत्यन्त चंचल प्रकृति की होने के कारण जब कभी मैं अपनी पुस्तकों की शिकायत उससे करती तो वह अत्यन्त गंभीर हो जाती और कहती, 'तुम्हें तो पढ़-लिखकर बहुत बड़ा बनना है। मुझे

देखो न कि मैं किस प्रकार अन्धकार में दिन बिता रही हूँ। यदि मुझे अपने पुत्र को भी पत्र लिखाना होता है तो दूसरों की खुशामद करनी पड़ती है और इस पर भी जो लिखा जाता है उसे आसानी से समझ नहीं पाती।'

"इस पर भी जब मैं बड़बड़ाती ही रहती कि 'क्या ही अच्छा हो, मैं छोटी चीनी लड़की बन जाऊँ और मुझे पढ़ना न पड़े', तो वह चकित सी आँखें फाड़ कर अपना नीचे का होंठ इस प्रकार दबाती कि मैं भयभीत होकर चुपके से अपनी पुस्तक पढ़ने लगती।

"बहुत सी बातों में उसने मेरी आदतों को बिगाड़ भी दिया था। मेरी माँ ने मुझे घरेलू कामों का अभ्यास डालने के उद्देश्य से नित्य झाड़ू लगाने का काम, साथ ही मेरे अपने कमरे को स्वच्छ रखने का दायित्व सौंपा था, किन्तु मेरी नर्स को यह सब सह्य न था। वह कहती, 'भला इसे काम करने की आवश्यकता ही क्या है? यह तो लड़कों के समान ही पढ़े-लिखेगी।' कई बार प्रातःकाल के नाश्ते के बाद जब मैं अपने कमरे में प्रवेश करती तो वह बिल्कुल झड़ा-पुँछा, मेरी सभी प्रयोग में आने वाली वस्तुएँ तरतीब से रक्खी हुई और बिस्तरा भी मेरे पलंग पर अत्यंत सुन्दरता से सजा हुआ मिलता। मेरी पीठ को थपथपाती हुई वह धीरे से मुझे समझाती, 'बच्ची! पढ़ने में थोड़ा अधिक समय दिया करोगी तो मैं बहुत खुश होऊंगी।'

"और एक दिन अत्यन्त हौले से जब उसका वृद्ध शरीर एक बड़े बक्स में बंद कर दिया गया और वह बक्स भी उसके पति की समाधि के समीप समाधिस्थ होने के लिए भेज दिया गया तो हमारा घर एक अजीब उदासी और विषाद से भर गया था। यों उसका पार्थिव शरीर हम लोगों के बीच से उठ गया था तो भी जिसकी ''यिक प्रेरणाओं ने मेरे जीवन-पथ को प्रशस्त किया था उसे मैं कैसे स्मृत कर सकती थी! आज भी उसका निरीह चिंतन, देवी-देवताओं में दृढ़-विश्वास, उसकी अपनी सहज अन्तर्जिज्ञासा और मेरे प्रति उसके स्नेह-आलोक की रश्मियाँ धुंधली नहीं हो पाई हैं। एक युग बीत जाने पर भी वह मेरे हृदय में बसी है। जब-जब अतीत की मधुर स्मृतियाँ घुमड़-घुमड़ कर मेरी अंतश्चेतना पर छा जाती हैं, तभी

प्रतिक्षण सघन होते धुँधलके में उसकी ममतामयी सजीव मूर्ति अधिकाधिक स्पष्ट होकर मेरी दृष्टि में घूम जाती है।"

पन्द्रह वर्ष की आयु में मिस पर्ल बक को शांघाई के बोर्डिङ्ग स्कूल में दाखिल कर दिया गया और सत्रह वर्ष की उम्र में ये अपने देश अमेरिका के रैंडोल्फ मैकन कालेज में शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से चली गईं। यद्यपि इनकी माता ने सदा ही अमेरिका को घर समझने की बात इनके दिल में बैठा दी थी, तथापि इनका वहाँ मन न लगा और कॉलेज के अजनबी, उच्छृङ्खल वातावरण से ये अपने जन्मजात संस्कारों का पूर्ण सामंजस्य न बैठा सकीं।

"अमेरिका का कालेज-जीवन मुझे बिल्कुल पसंद न आया। वहाँ जैसे सभी कुछ बहुत सीमित था। मेरी सहपाठी लड़कियाँ जिस पद्धति से रहती थीं उससे मैं सर्वथा अनभिज्ञ थी। ऐसा ज्ञात होता था मानों मैं बहुत दूर की चीज़ हूँ, एकदम दूसरे छोर पर खड़ी हूँ। मैं शीघ्र ही समझ गई कि मुझे क्या करना चाहिए। मैं उनकी ही भाँति बनने का प्रयास करती हुई बाह्याडंबरों का अभ्यास करने लगी, क्योंकि जो कोई भी सुनती थी कि मैं चीन से आई हूँ वह चिहुँक पड़ती और मुँह बिराने लगती, जो मुझे बहुत असह्य होता था।"

इसके बावजूद, अपनी लेखनी के चमत्कार और प्रत्युत्पन्न मति के कारण पर्ल बक शीघ्र ही कॉलेज का नेतृत्व करने लगीं। प्रतिमास कॉलेज-पत्रिका में ये लेख लिखती थीं, जिसके परिणाम-स्वरूप उन्होंने उसी वर्ष दो साहित्यिक पुरस्कार प्राप्त किये। उसमें से एक उन्हें सर्वोत्तम गल्प पर दिया गया था।

अपना अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् ये अपनी माता की रुग्णावस्था के कारण पुनः चीन चली गईं और दो वर्ष तक रोगिणी की परिचर्या में लगी रहीं। तदनन्तर सन् १९१७ में इन्होंने जॉन एल० बक नामक एक अमरीकी नवयुवक से विवाह कर लिया और पति के साथ उत्तरी-चीन चली आईं, जहाँ कि ये पाँच वर्ष तक रहीं। उन्होंने लिखा है—

"ये पाँच वर्ष मेरे जीवन के सबसे आनन्ददायी, साथ ही

"चीनी विद्यार्थियों की निरीह आँखों में मुझे कभी न बुझने वाली अग्नि और उनके उत्सुक मुखमण्डल पर संकल्प के चिह्न दृष्टि-गोचर होते हैं। एक बार मेरी क्लास में एक चीनी तरुणी ने चिल्ला कर कहा, 'ओह! यदि आप इस मुश्किल सवाल का हल समझा सकती हैं तो हमें यह भी बताइये कि हम अपने जीवन को किस प्रकार प्रेरणामय स्फूर्ति से भरें?' मैंने सोचा—यह यौवन की व्यथा-भरी, निराश चीख है, हृदय-विदारक चीख, जो प्रत्येक संवेदनशील हृदय के लिए विचारणीय है, क्योंकि यौवन में ही लहलहाती आशाओं के अंकुर फूटते हैं। हम विदेशियों को, जिन्होंने कि उनकी आशाओं पर तुषारपात किया है, उन्हें आगे बढ़ने का प्रोत्साहन देना चाहिए।"

सन् १६२५ में ये विशेष अध्ययन के लिए अमेरिका चली गईं और इतिहास में 'चीन और पश्चिम' इस विषय पर 'ल्योरा-मेसेंजर' पुरस्कार प्राप्त किया। जब ये चीन से अमेरिका जा रही थीं, तब इन्होंने जहाज़ पर ही अपने सर्वप्रथम उपन्यास की कहानी गढ़ी थी। "दुनिया से दूर, 'एक्सप्रैस' जहाज़ के एकान्त कमरे में, मैंने अपने 'ईस्ट विंड-वेस्ट विंड' (East Wind-West Wind) उपन्यास की कहानी सोची थी, क्योंकि अंग्रेज़ी जहाज़ में सभी यात्री सामाजिक आचारों को भंग करने के भय से बहुत कम एक दूसरे से बातें करते हैं।"

'ईस्ट विंड-वेस्ट-विंड' प्रकाशित होने के बाद ये सन् १६२६ में नानकिंग आ गईं और उपन्यास लिखने में व्यस्त हो गईं। चीन देश की ऐतिहासिक-सामग्री लेकर इन्होंने उपन्यास लिखना आरम्भ किया, किन्तु मार्च, सन् १६२७ में राष्ट्रीय सैनिकों ने नानकिंग में विदेशी परिवारों की लूट-मार शुरू कर दी; ये बाल-बाल बचीं। केवल दस मिनट पूर्व अपनी जान लेकर पति और दो अबोध बालकों के साथ ये घर से निकल भागीं और तेरह घण्टे तक एक बुढ़िया के छोटे से मकान के तहखाने में बन्द रहीं। बाहर भयंकर कत्लेआम और लूटपाट हो रही थी, जलते हुए मकानों की दीवारें धमाके के साथ गिरती हुई सुन पड़ रही थीं और बक दम्पति चुपचाप साँस रोके हुए एक दूसरे को पकड़े बैठे थे। सौभाग्य से उनकी छोटी बच्ची, जो चन्द महीनों की ही थी, नहीं रोई।

श्रीमती पर्ल बक का उपन्यास, जो चीनी प्लॉट को लेकर लिखा गया था और समाप्त हो गया था, नष्ट कर दिया गया और घर की सभी चीजें जला दी गईं। उस समय "एशिया मेगज़ीन" को लिखे हुए एक पत्र में ये लिखती हैं, "अपने श्वेत-रंग के कारण मृत्यु से साक्षात्कार करने का जो भयंकर और विचित्र अनुभव मुझे हुआ, वह सदैव याद रहेगा। उस समय के हिंसक वातावरण और प्रतिशोध की विभीषिका से कोई भी शक्ति मेरी रक्षा करने में समर्थ न थी। मैं जो जीवित रह सकी उसका एकमात्र कारण था मेरे चीनी मित्रों की सहायता, जो मुझे जानते थे और जिन्होंने अपने जीवन को दाँव पर रख कर मुझे प्राणदान दिया था।"

ये कुछ दिन के लिए सपरिवार जापान चली गईं और अपने अनुभवों को 'दि फर्स्ट वाइफ' (The First Wife) और 'दि यंग रेवोल्यूशनिस्ट' (The Young Revolutionist) आदि कहानियों में चित्रित किया। सन् १६३१ में इनका सबसे प्रख्यात उपन्यास 'दि गुड अर्थ' (The Good Earth) प्रकाशित हुआ, जिस पर 'पुलिट्ज़र' पुरस्कार प्रदान किया गया। चीनी भाषा में चल-चित्र के रूप में यह चीन में खेला गया और लगभग बीस भाषाओं में अनुवादित हुआ। इसके अतिरिक्त "दि मदर" (The Mother), 'ए हाउस डिवाइडिड' (A House Divided), 'हाउस आफ अर्थ' (House of Earth), 'दिस प्राउड हार्ट' (This Proud Heart), 'दि पैट्रियट' (The Patriot), 'अदर गॉड्स' (Other Gods), 'टुडे एण्ड फौरएवर' (To-day and Forever), 'ड्रैगन सीड' (Dragon-Seed), 'दि प्रॉमिज़' (The Promise), 'दि स्पिरिट एण्ड दि फ्लेश' (The Spirit and the Flesh), 'पोर्ट्रेट आफ ए मैरिज' (Portrait of A Marriage) आदि इनके सब मिला कर चौदह उपन्यास हैं, जिस वृहत् कृतित्व के लिए इन्हें सन् १६३८ में नोबल-पुरस्कार प्रदान किया गया। इन्होंने बच्चों के लिए तेईस छोटी-छोटी मनोरंजक कहानियों की पुस्तकें लिखी हैं और सामाजिक, राजनीतिक विषयों पर भी इनके कुछ निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। चीन का सबसे प्रख्यात उपन्यास 'शुइ-हु-चुआन' का इन्होंने साढ़े चार वर्ष

की कठोर साधना और परिश्रम के बाद अंग्रेजी-भाषा में अनुवाद किया, जिसका अंग्रेज़ी शीर्षक है 'ऑल मेन आर ब्रदर्स' (All Men are Brothers), अर्थात् सभी मनुष्य भाई-भाई हैं। पुस्तक को पढ़ते हुए ऐसा ज्ञात होता है मानों मनुष्यों की एक लम्बी क़तार आँखों के सामने से गुज़र रही हैं, जिसमें स्त्री-पुरुष, वच्चे-वृद्ध, अमीर-गरीव, पण्डित-मूर्ख, धर्मात्मा-पापी और राजा-रंक ही नहीं, वरन् सभी जाति के लोग यथा पुजारी, कप्तान, सम्राट्, राजा, राजकुमार, गवर्नर, जेलाध्यक्ष, कैदी, यहाँ तक कि मज़दूर और निन्द्य काम-पेशा वाले लोगों का भी बड़ा रोचक वर्णन है। इसे पढ़ते हुए पुस्तक का अस्तित्व तिरोहित होकर समग्र मानवता का व्यापक रूप कल्पना पर छा जाता है।

११ जून सन् १९३५ में मिस्टर वक से सम्बन्ध-विच्छेद कर के इन्होंने 'जान डे कम्पनी' के प्रेसीडेन्ट और 'एशिया मेगज़ीन' के प्रधान सम्पादक रिचर्ड जे० वाल्श से अपना विवाह कर लिया और तव से अमेरिका में वस्ती से दूर पेनीसिल्वनिया में चार-सौ एकड़ जमीन लेकर अपना नया घर वसा लिया। इस नए वैवाहिक-जीवन में इन्होंने चार वच्चे, तीन लड़के और एक लड़की, गोद लिए हैं। दो इनकी खुद की वड़ी लड़कियाँ हैं और छः नाती नातिन हैं। ये वृक्ष, फूल-पौधे आदि लगाने की वड़ी शौकीन हैं और अमेरिका में रह कर भी चीनी-पद्धति से मकान की सजावट आदि पसन्द करती हैं। ये चीनी-भोजन पकाने में बड़ी दक्ष हैं।

श्रीमती पर्ल वक की सव से वड़ी विशेषता यह है कि वे केवल उपन्यास-लेखिका ही नहीं, वरन् दो सर्वथा विभिन्न देशों चीन और अमेरिका के सूक्ष्म अंतर्भावों को जोड़ने वाली वीच की कड़ी हैं। आरम्भ से ही उन्होंने साहित्य और कला को जीवन की धूप-छाँह में रख कर परखा है और मौजूदा युग की पुस्तक के पन्नों पर स्नेहभरी उँगलियों से लिखा है। वे अपने अन्तर में उमड़ती भावनाओं को सूक्ष्म रेखाँकनों में उभार कर 'सत्यं-शिवं सुन्दरम्' की ओर अग्रसर करती हैं, जो मानव मन पर अंकित होता चलता है। उन्होंने जीवन में जो कई मोड़, उथल-पुथल और आवर्त्तन-प्रत्यावर्तन देखे हैं उससे अपने सपनों के सरल, किन्तु मार्मिक चित्र खींचने में इन्हें पर्याप्त

सुविधा हो गई है। ये सदैव ही सुकुमार भावना-कलियों से अपनी अभिव्यक्ति को सजाने-सँवारने में सचेष्ट रही हैं और इधर जो दो-ढाई दशकों से अपने शक्तिशाली व्यक्तित्व से विश्व-कथा-साहित्य को गरिमान्वित करती रही हैं, वह अभूतपूर्व है।

डॉक्टर एनी बेसेंट

जन्म तिथि : १ अक्तूबर, १८४७
जन्म स्थान : लंदन
मृत्यु काल : २० सितम्बर, १९३५
मृत्यु स्थान : अडयार (मद्रास)

डॉक्टर एनी बेसेंट

समय जब बहुत दूर के धुँधले भविष्य की ओर झाँक कर देखेगा और सैंकड़ों-हज़ारों वर्ष बीत जाएँगे, तब भी डॉक्टर एनी बेसेंट और उनके महान् व्यक्तित्व की अद्वितीय आभा हमें झलकती मिलेगी। आज भारत उनकी सत्सेवा-सरिता के कलकल निनाद से ओत-प्रोत है। विश्व की नारियों में बहुत कम उनकी सी महिलाएँ मिलेंगी, जो कि अपने जीवन-काल में इतनी ऊँचाई पर पहुँची हों, जिन्होंने मानवता की इतनी महान् सेवा की हो और अपने आध्यात्मिक एवं नैतिक-स्तर को इतना ऊपर उठाया हो। अभी हम उनके बहुत समीप हैं; उनकी गौरव-गरिमा और आचरण-आभा में अपने को चकाचौंध सा पाते हैं। युगों बाद आने वाली पीढ़ियाँ उस आत्मा की सच्ची महत्ता की सही-सही क़ीमत आँकेंगी और उनकी महान् सेवाओं को स्मरण कर सत्पथ

पर चलने की प्रेरणा प्राप्त करेंगी।

डाक्टर एनी बेसेंट का जन्म पहली अक्टूबर, सन् १८४७ में एक आयरिश परिवार में हुआ था। इनकी जन्मभूमि लंदन थी और वहीं उनका पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा हुई। प्रारम्भ से ही इनमें विलक्षण प्रतिभा और अद्भुत चिंतन-शक्ति थी। इन्हें समय-समय पर अंतरात्मा के दर्शन होते थे और ईश्वरीय-प्रेरणा मिलती थी। विवाह हो जाने पर एक बार जब वे अपने पति के दुर्व्यवहार से इतनी अधिक खिन्न हुईं कि विष पीने तक को तैयार हो गईं तो तत्क्षण उनके भीतर से उन्हें एक अंतर्ध्वनि सुनाई पड़ी, "ओ कायर ! तू कष्ट और मुसीबतों से डर कर अपनी हत्या करना चाहती है ? आत्म-समर्पण का पाठ सीख और सत्य का अन्वेषण कर।" यह सुन कर युवती एनी बेसेंट ने तुरन्त विष की बोतल खिड़की से बाहर फेंक कर टुकड़े-टुकड़े कर दी। एक बार एकान्त में चिंतन करते हुए उन्हें सुनाई पड़ा, "ऐ लड़की ! क्या तू सत्य की खोज के लिए तुच्छ वासनाओं का दमन न करेगी ?" और उन्होंने उत्तर दिया, "अवश्य प्रभु !" एक दिन वे चुप-चाप अपने पति और दो सुकुमार बालकों को छोड़ कर घर से निकल पड़ीं और अपने दिव्य प्रेम को विश्व के विस्तृत प्रांगण में बिखेर दिया। वे जहाँ कहीं जाती थीं, अपने सुन्दर विचारों और गहन भावों को भाषणों द्वारा व्यक्त करती थीं। उन्होंने अपने सत्य की चिर-साधना के सहारे संसार को दिव्य संदेश दिया, अंधकार में ध्रुव तारे की भाँति प्रकाश फेंका और नया रास्ता दिखाया। उन्होंने अपने को आध्यात्मिक अन्वेषण में लगा दिया, किन्तु इस ओर उनकी संतोषपूर्ण प्रगति न हो सकी। कुछ दिन पश्चात् मि० डबल्यू० टी० स्टेड ने मैडम ब्लैवत्सकी की दो पुस्तकें उन्हें पढ़ने के लिए दीं। जैसे ही उन्होंने ये पुस्तकें समाप्त कीं, सत्य की रश्मियाँ उनके नेत्रों के समक्ष कौंध गईं। उनमें अज्ञात शक्ति जागृत हुई। वे मैडम ब्लैवत्सकी से मिलने के लिए आतुर हो उठीं और उनसे मिलने के बाद उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ—मानों वे संसार की महान् सेवा के लिए ही अवतीर्ण हुई हैं। उनमें दैवी शक्ति आ गई और तब से उनमें यह भावना जागृत हुई कि "विश्व ही मेरा देश है और परोपकार धर्म।" उन्होंने समस्त यूरोप का भ्रमण किया और कई बार ..., आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैण्ड गईं। थियोसौफिकल सोसाइटी

से खिंचकर वे भारत आईं और उन्होंने अपने जीवन का दो-तिहाई भाग भारत की सेवा में लगाया। उन्होंने अनेक सुधार-आंदोलनों में भाग लिया और स्त्री-शिक्षा पर ज़ोर दिया। वे अशिक्षा, अन्ध-विश्वास और कुरीतियों को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहती थीं। भारत में आने के पाँच वर्ष बाद उन्होंने बनारस में 'सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज' की स्थापना की विशाल योजना बनाई और उसके संचालन के लिए ब्रिटेन और अमेरिका से डॉक्टर ए० रिचर्डसन और डॉक्टर जी० एस० अरुण्डेल जैसे विद्वानों को आमन्त्रित किया। महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय को विश्वविद्यालय के निर्माण में प्रोत्साहन और प्रेरणा देने में इन्हीं का सबसे बड़ा हाथ था। भारत के इतिहास में कोई दूसरा ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जब उनकी कोटि की अन्य किसी विचारशील और आदर्श महिला ने सामाजिक घटनाओं के निर्णय में इतना ज़बर्दस्त भाग लिया हो तथा इतना कठिन काम कर दिखाया हो। उस समय चिरसुप्त भारत में जो कुछ भी जागृति हुई, युवकों में ही नहीं प्रत्युत् बालिकाओं और अन्त्यजों में भी जो पढ़ने की अभिरुचि पैदा हुई वह सब श्रीमती बेसेंट की ही तपस्या, उनके ही मनोबल, सेवा और साधना का फल है। वे अत्यन्त विदुषी और गंभीर मनोवृत्ति की होते हुए भी अत्यन्त कोमल और प्रेम से परिपूर्ण थीं। जो कोई भी उनके पास आता था, वह उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। पथ-भ्रष्ट और कर्त्तव्य-विमुख व्यक्तियों को कर्त्तव्य के विषय में जागरूक रखना वे अपना परम धर्म समझती थीं। वे मानव की सत्य, शिव और सुन्दर भावना के अक्षय कोष की अचल, अडिग, अमर प्रहरी थीं। वे अपने उत्कृष्ट आचरण और शुद्ध मनोबल द्वारा सत्-आदर्शों की रक्षा ही नहीं करती थीं, वरन् उन्हें जन-जन के हृदय में डालकर उनका पोषण भी करती थीं।

भारतभूमि से उन्हें अत्यधिक स्नेह था। वे अपनी मातृभूमि की भाँति ही इसे देखती, आदर करती और प्रेम करती थीं। भारत को उन्होंने अपना लिया था और भारतीयों का एक माँ की तरह वे ध्यान रखती और हित करती थीं। बदले में उन्होंने भी उनसे अपार श्रद्धा और प्रेम पाया था।

वे सत्य की अन्वेषक थीं। उन्होंने थियोसॉफी धर्म को अपनाया

था। कर्नल आलकॉट की मृत्यु के पश्चात् सन् १९०७ में वे थियोसॉफिकल सोसाइटी की प्रेज़ीडेण्ट चुनी गईं और सात वर्ष तक इस पद को सुशोभित करती रहीं। वे अत्यन्त उत्साह और अनन्यता से थियोसॉफी द्वारा सत्य का प्रचार करती थीं। यदि उनका कोई विरोध भी करता था तो अत्यन्त विनम्रता और प्रेम से वे उसे समझाती और उसकी शंकाओं का समाधान करती थीं। एक बार उन्होंने कहा था—

"अपनी सत्य की अमूल्य निधि को सुरक्षित और अछूता रखना ही मैंने अपना कर्त्तव्य बना लिया है, चाहे मुझे इसके लिए कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े। सत्य के अनुसंधान में चाहे मेरे समस्त लौकिक बन्धन टूट जाएँ, मेरी मित्रता और सामाजिक सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाएँ, चाहे मैं प्रेम से वंचित रह जाऊँ, चाहे मुझे उसके पाने में निर्जन पथों में क्यों न भटकना पड़े, चाहे सत्य प्रकट होकर मुझे क़त्ल ही क्यों न कर डाले—तब भी मेरा विश्वास उसमें किंचित् भी कम न होगा, मैं उसका अनुसरण करने से पीछे न हटूँगी। मृत्यु के पश्चात् अपनी समाधि पर मैं केवल यही एक वाक्य चाहती हूँ "उसने सत्य के अन्वेषण में अपने प्राणों की बाजी लगा दी।"

राजनीतिक क्षेत्र में भी श्रीमती बेसेंट ने बीस वर्ष तक भाग लिया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में भारतवर्ष परतन्त्रता और विदेशी शासन की शृंखला में बुरी तरह जकड़ा था। युवकों की स्वातन्त्र्य-भावना कुचली जा रही थी और भारतीयों को पराधीन बनाए रखने के लिए बड़े-बड़े कुचक्र रचे जा रहे थे। संयोग की बात है, इनका ध्यान इस ओर गया और सन् १९१३ में ये राजनीतिक क्षेत्र में एक कर्मठ सैनिक की भाँति उतर पड़ीं। इन्होंने 'कामनवील' नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकाला और कुछ महीने बाद प्रसिद्ध दैनिक पत्र 'मद्रास स्टैण्डर्ड' भी ले लिया। इन्होंने उसी वर्ष इसका नाम 'न्यू इण्डिया' में बदल दिया और कई वर्ष तक बड़ी योग्यता से वे इस का सम्पादन करती रहीं। वे 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' में सम्मिलित हुईं और उसका सभापति बनने का सम्मान प्राप्त किया। सन् १९०७ में में 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' दो पार्टियों में विभक्त हो गई थी;

उस समय दो प्रमुख नेता थे–श्री वालगंगाधर तिलक और गोखले। डॉक्टर बेसेंट ने इन दोनों पार्टियों में एकता कराई और 'ऑल इण्डिया होम रूल लीग' की स्थापना की। सन् १६२१ में उन्होंने भारतीय-स्वतन्त्रता के लिए दूसरा आन्दोलन किया, जो कि 'नेशनल कन्वेन्शन' कहलाया। इसके परिणामस्वरूप सन् १६२५ में 'कामनवेल्थ ऑफ़ इण्डिया बिल' का प्रस्ताव हुआ और ब्रिटिश पार्लियामेंट में रक्खा गया। इस बिल का उद्देश्य था सेना और विदेशी मामलों को छोड़ कर भारत को समस्त अधिकार सौंपना। पार्लियामेंट में यह बिल विचारार्थ रक्खा गया और 'हाउस ऑफ कामन्स' में पास भी हो गया, किन्तु कोई शुभ परिणाम नहीं निकला। भारतीय स्वातन्त्र्य-आंदोलन में वे जेल भी गईं और अनेक कष्ट सहे। अपनी विरोधी भावनाएँ वे इंग्लैण्ड में भी ले गईं और वहाँ अनेक प्रकार के संगठन किए और मार्मिक भाषण दिए। उन्होंने भारत में युवकों और बालिकाओं के उत्थान के लिए बड़ा कार्य किया और 'बॉय स्काउट' और 'गर्लगाइड मूवमेण्ट' चलाई। सन् १६२१ में लार्ड पावेल द्वारा 'ऑल इण्डिया बॉय स्काउट एसोसिएशन' की वे आनरेरी कमिश्नर नियुक्त की गईं और सन् १६३२ में इस संस्था की सबसे सम्मानित उपाधि 'सिलवर वुल्फ़' उन्हें प्रदान की गई।

डॉक्टर बेसेंट ने सब मिलाकर ३०० पुस्तकें लिखी हैं और असंख्य टिप्पणियाँ और लेख भी उनके मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने जीवन काल में अनेक दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रों का सम्पादन किया, जिनके अग्रलेख प्रायः वे ही लिखती थीं और सब प्रकार की आर्थिक और प्रकाशन व्यवस्था भी स्वयं ही करती थीं। वे प्रारम्भ से ही घोर सुधारवादी और विचार-स्वातन्त्र्य, मुद्रण-स्वातन्त्र्य और सभा-सम्बन्धी स्वतन्त्रता की क़ायल थीं। उन्होंने 'महिला प्रिंटिंग प्रेस' का संचालन किया और एक बहुत बड़ा सामाजिक पत्र 'डेली हेरल्ड' निकाला। उन्होंने भारतीय सम्पादकों के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित किया और शिक्षित वर्ग को समाचार-पत्रों की अद्भुत कार्य-क्षमता और उपयोगिता का ज्ञान कराया।

इसके अतिरिक्त वे एक बहुत बड़ी व्याख्यात्री, संस्थापिका, लेखिका, लोक-सेविका, नेत्री, सम्पादिका, सुधारक, राजनीतिज्ञ और

अंतर्राष्ट्रीय-ज्ञाता थीं। वक्तृता देने में डॉक्टर बेसेंट से बढ़ कर उस समय कोई था ही नहीं। उनकी जीवन-पद्धति आध्यात्मिक, सद्भावनापूर्ण और सत्प्रेरणाओं से युक्त थी। वे शुद्ध शाकाहारी और सात्त्विक मनोवृत्ति की थीं। वे छोटे-से-छोटे जीव से भी तादात्म्य अनुभव करती थीं और उनके प्रति किंचित् उपेक्षा अथवा निर्दयता उन्हें असह्य थी। उन्होंने पशु-संरक्षण के लिए भी आन्दोलन किए थे और मानवता को प्रेम और परोपकार का पाठ पढ़ाया था।

जैसे-जैसे वे वृद्धा होती गईं, उनका शरीर उनके भीतर की शक्तिशाली आत्मा का दर्पण बनता गया, उनकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ प्रबुद्ध हो उठीं। देश, काल और परिस्थिति के अनुकूल उनकी सेवाएँ साकार रूप धारण करती गईं और उन्होंने भारतीयों के मन और आत्मा के तत्त्वों में प्रवेश करके उन्हें बदला और उनको नये ढंग से तैयार किया। वे उन दुर्लभ नारी-रत्नों में थीं जो यदा-कदा दुर्बल मानवता को अलंकृत करने के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण हो जाया करती हैं। उनकी सेवा, तपस्या और साधना की छाप जो भारत पर पड़ी है वह अमिट है, अमर है। उनका प्रभाव सदैव बना रहेगा और प्रत्येक आने वाली पीढ़ी को प्रभावित करता रहेगा, क्योंकि वे भारत की आत्मा का एक अंग बन गई हैं और उसके अणु-अणु में समा गई हैं।

मैडेम क्यूरी

जन्म तिथि : ७ नवम्बर, १८६७
जन्म स्थान : वार्सा (पोलैण्ड)
मृत्यु तिथि : ४ जुलाई, १९३४
मृत्यु स्थान : वैलेंस (Valence), फ्रांस

मैडेम मेरी क्यूरी

316

पढ़ने की उत्कट लालसा और उन्नति-पथ पर अग्रसर होने की तीव्र साध लिए एक दिन मेरी असहाय और निर्धन पेरिस में अकस्मात् आ पहुँची थी। एक बड़े से मकान की चौथी मंज़िल पर उसने एक बहुत छोटा कमरा किराये पर ले लिया था। वह इतनी ग़रीब थी कि उसके पास खाने तक को पैसे न थे। प्राइवेट-टयूशन अथवा सारबोन लेबोरेटरी में अँगीठी सुलगाकर और बोतल धोकर वह दिन भर के लिए कुछ पैसे जुटा पाती और तब उसे कुछ खाने को मिलता। उसकी तपस्या, एकरस जीवन की कठोर साधना और बोतल धोने की सफ़ाई देखकर भौतिक-विज्ञान के अध्यक्ष गेब्रियल लिप्पमेन और सुप्रसिद्ध गणितज्ञ हेनरी पायनकेअर का ध्यान इस अज्ञात लड़की की ओर आकर्षित हुआ, जो उसके सम्बन्ध की जानकारी में दिलचस्पी लेने लगे।

इसमें सन्देह नहीं कि महान् व्यक्तित्व इतिहास के प्रवाह को मोड़ देने की क्षमता रखते हैं। यद्यपि मैडम क्यूरी का आरम्भिक जीवन अत्यन्त मुसीबतों में बीता था, होश सम्भालने के पश्चात् उन्हें स्वयं अपना मार्ग चुनना पड़ा था—उस कर्मरत, सुदृढ़ शरीर मजदूर की भाँति जो पथरीली पगडण्डी पर मजबूत हथौड़ी निष्ठुर हाथों में लेकर खुद अपना रास्ता बनाता है, तथापि व्यावहारिक जगत् के कठोर तथ्यों से अनवरत संघर्ष करते रहने पर भी वे कभी हताश न हुईं और अनेक कठिनाइयों, कष्टों और अवरुद्ध स्थितियों में भी उन्होंने कभी हार न मानी। वे फूल जैसी कोमल होते हुए भी आपत्तियों और कठिन परिस्थितियों में वज्र सी कठोर हो जाती थीं। उनकी प्रतिभा, अद्वितीय शक्ति, कर्त्तव्य के प्रति निर्भयता और उनकी अपनी सफलता में अविचल विश्वास उनके जीवन में उस स्वर्णिम मोड़ के समान था जिससे टकराकर सुदृढ़ से सुदृढ़ लौह-चट्टान भी विमुख लौट जाती थी।

पोलैण्ड की मिट्टी के जिन विद्रोही तत्त्वों से मेरी का निर्माण हुआ था वह मिट्टी सदा ऐसे विद्रोहियों को जन्म देती रही थी; खासकर उन दिनों तो रूस की जारशाही के विरुद्ध पोलिश-निवासियों में अनेक क्रान्तिकारी उग्र राजनैतिक-दल पनप रहे थे, जिनका लक्ष्य निर्धन जनता का सांस्कृतिक-विकास और उनके हीन जीवन-स्तर को समान धरातल पर लाने का था। मेरी के पिता डॉक्टर स्कोलडस्की, जो असाधारण विज्ञान-वेत्ता ही नहीं वरन् जर्मन, फ्रैंच, लैटिन, ग्रीक, इंग्लिश आदि कई भाषाओं के पण्डित थे, अत्यन्त दैन्य और कष्टों में अपना जीवन-यापन कर रहे थे। उत्तरी पोलैण्ड स्थित एक कॉलेज में साइन्स के अध्यापक होते हुए भी उनकी आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय थी कि वे अपने बच्चों की शिक्षा का भी सुचारु प्रबन्ध न कर सकते थे। मेरी की माता तो घर की दुर्व्यवस्था और आर्थिक-कठिनाइयों के कारण चिन्तातुर और विक्षुब्ध क्षय-रोग से पीड़ित होकर युवावस्था में ही काल-कवलित हो गई थी और उसकी मृत्यु के बाद अनाथ बच्चों के संरक्षक वृद्ध पिता पर भी नियति का क्रूर चक्र घूम रहा था। उनके एक सम्बन्धी ने उनका बहुत सा संचित धन नष्ट कर दिया था। उन्हीं दिनों जारशाही के कुछ अन्ध-समर्थकों ने चिढ़कर उन्हें

अध्यापक-पद से हटा दिया था, जिससे उनकी पारिवारिक आर्थिक-स्थिति डाँवाडोल सी थी। वृद्ध प्रोफेसर के अन्तर में जो कोलाहल व्याप्त था, उसकी छाप बच्चों के सुकोमल मन पर पड़ रही थी। वे भी पिता के साथ ही साथ चिंतित और परेशान रहते थे। घर में कोई ऐसा छोटा-मोटा नौकर भी न था जो झाड़ू-बुहारी, उठाने-धरने के छुटपुट काम और गार्हस्थिक व्यवस्था में अबोध बालकों की सहायता कर सकता। प्रयोगशाला गन्दी पड़ी रहती और चीजें अस्तव्यस्त। अन्त में सब से छोटी लड़की मेरी पिता के कामों में हाथ बँटाने लगी। वह ढीला गाऊन पहनकर नित्य कन्धे पर तौलिए लटकाए प्रयोगशाला की सफ़ाई करने पहुँच जाती, एक-एक चीज़ झाड़-पोंछ कर सम्भाल कर रखती और इतस्ततः पड़े चमकते वैज्ञानिक-यन्त्रों को ध्यान से देखकर उनका अक्स अपने दिल में उतारती जाती कि कदाचित् उसे भी किसी दिन उन्हीं से काम पड़े।

शनैः शनैः वह वैज्ञानिक-प्रयोगों में भी दिलचस्पी लेने लगी। उसे भौतिक-विज्ञान से विशेष प्रेम था, अतएव जब वह मध्याह्नोत्तर स्कूल से लौटती तो अपने पिता के साथ प्रयोगशाला में जाकर सभी नवीन प्रयोगों को ध्यान से देखती और समझने की चेष्टा करती। वृद्ध प्रोफेसर ने पहले तो उसकी इस उत्तरोत्तर बढ़ती अभिरुचि को निरी चपलता और बाल-औत्सुक्य समझा, किन्तु अन्त में उसकी सच्ची लगन देखकर वे बहुत खुश हुए और नियमित रूप से उसे भौतिक-विज्ञान की शिक्षा देने लगे।

उधर पोलैण्ड में ज़ारशाही की क्रूरताएँ दिनोंदिन बढ़ रही थीं और साथ ही पोलिश-निवासियों में असंतोष और प्रतिशोध की भावना भी उग्र होती जा रही थी। पोलिश-भाषा को कुचला जा रहा था; राष्ट्रीय-गीतों, प्रार्थनाओं और नृत्य-संगीत आदि पर सख्त प्रतिबंध था, जिससे प्रत्येक पोल में देश-प्रेम उफना पड़ रहा था। जिस किसी में भी हृदय और मस्तिष्क, विवेकपूर्वक सोचने की क्षमता और आत्म-सम्मान का भाव विद्यमान था वही क्रान्तिकारी और विद्रोही-दल में शरीक़ हो गया था। छिपकर नित्य ही सभाएँ होती थीं, पर्चे बाँटे जाते थे, विरोधी प्रस्ताव पास किए जाते थे और ईश्वर से प्रार्थना की

जाती थी कि यह आज़ादी की लड़ाई सफल हो। दुर्भाग्य से इन सब गुप्त कार्रवाइयों का पता पुलिस को चल गया। डॉक्टर स्कोलडस्वकी के कुछ शिष्य और मेरी, जो उन सबका नेतृत्त्व कर रही थी, बंदी बना लिए जाने की स्थिति में आ गए।

मेरी ने तत्काल वार्सा छोड़ दिया और अपने अध्ययन को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से पेरिस पहुँची, जहाँ कुछ दिन अत्यन्त कष्ट भोगकर अंततः गेब्रियल लिप्पमेन और हेनरी पायनकेअर की कृपा से उनका परिचय पीरी क्यूरी से हुआ। पीरी क्यूरी पेरिस के एक सुप्रसिद्ध डाक्टर के पुत्र थे और उन्नीस वर्ष की अवस्था में ही भौतिक-विज्ञान की उच्च-डिग्री प्राप्त करके पेरिस की प्रमुख वैज्ञानिक-संस्था में अध्यक्ष का कार्य कर रहे थे। न केवल रसायन-शास्त्र एवं गणित में ही उनकी विशेष अभिरुचि थी, प्रत्युत् भीतर ही भीतर अपनी चिन्तन-शील मनोवृत्ति के कारण वे दिवा-स्वप्नों में विभोर प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में प्रभु की प्रत्येक कला-सृष्टि के समक्ष अपनी अनुभूतियों को निरावरण व्यक्त कर देने की कला में सिद्धहस्त थे। जीवन के निर्मम अट्टहास और विद्रूप के मध्य निस्सीम व्योम की गहन नीलिमा और सरस वसुन्धरा की उल्लासमय हरीतिमा में वे सब कुछ भूल जाते, तो भी एकाकी जीवन की कुण्ठित चेतना उस यौवनोच्छल उद्वेगों में डूबती उतराती रहती, जिसकी अनुभूति मनोनुकूल जीवन-साथी की कल्पना मात्र से होती है। अकस्मात् पीरी क्यूरी का ध्यान अल्हड़ चाल, नीली आँखों और सुन्दर केशों वाली इस विदेशी तरुणी छात्रा की ओर आकृष्ट हुआ, जो सदैव पढ़ने में व्यस्त, चिन्तित और अव-साद में डूबी रहती थी। दोनों को क्लास में साथ-साथ काम करना पड़ता था। दोनों ही उत्साही, परिश्रमी, प्रतिभा-सम्पन्न, विज्ञान-प्रेमी और अपने सामने फैले कार्य को शीघ्र से शीघ्र समझने और पूर्ण करने की चेष्टा करते थे। दोनों ही निर्धन और अपने पुरुषार्थ से आजीविका कमाते थे, अतः दोनों में उत्तरोत्तर आकर्षण बढ़ता गया। एक दिन पीरी ने मेरी को लिखा, "क्या ही अच्छा हो हम एक दूसरे में आत्म-सात् हो जाएँ? मानवता और विज्ञान के हित के लिए हमारा एक हो जाना आवश्यक है।"

मेरी विवाह के इस मूक आमन्त्रण को समझ गई और उसने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। सन् १८९५ में जब पीरी छत्तीस वर्ष के थे और मेरी अट्ठाईस वर्ष की, दोनों ने विवाह के पवित्र दायित्त्व को सिर झुकाकर अङ्गीकार किया।

आरम्भ से ही वे एक दूसरे के सहायक थे। पीरी यदि झाड़ू लगाते, तो मेरी खाना बनाती; एक कुछ करता होता, तो दूसरा कुछ। दोनों मिलकर अपने काम को हल्का बना लेते। प्रयोगशाला में भी दोनों साथ-साथ दिखाई पड़ते। इस प्रकार तीन वर्षों के भीतर ही कठोर परिश्रम, अध्यवसाय और पारस्परिक सहयोग से मेरी ने गणित और भौतिक-विज्ञान में उच्च-उपाधि प्राप्त की। इस बीच सन् १८९८ में उनकी प्रथम सन्तति ईरेन ने भी जन्म लिया।

क्यूरी दम्पति जानबूझ कर बहुत कम लोगों से मिलते थे, क्योंकि इससे उनकी एकान्त और एकरस साधना नष्ट होती थी। दोनों ने नित्य कर्म करना ही अपने जीवन का ध्येय बना लिया था। विज्ञान और वैज्ञानिक-अन्वेषण के विषय में बातचीत करने में उन्हें अत्यन्त सुख होता था। कभी वे एकाग्र-चित्त और शून्य में झाँकते हुए से काम में जुटे रहते, कभी बच्चों के समान मधुर मुस्कान के साथ अपनी बच्ची से आमोद-प्रमोद करते होते और कभी गम्भीर वाद-विवाद अथवा वैज्ञानिक-समस्याओं के सुलझाने में व्यस्त रहते। एक टूटे-फूटे छप्पर की छोटी सी परिधि उनके वैज्ञानिक परीक्षण की प्रयोग-शाला थी, जहाँ वे अहर्निश वैज्ञानिक अनुसंधान में रत रहते थे।

ईसवी सन् १८६० से ही कतिपय वैज्ञानिक अन्वेषकों द्वारा वायु में कुछ ऐसे लवण-तत्त्वों की स्थिति बताई जा रही थी, जो अलौकिक विद्युत् शक्ति से संपन्न थे। सन् १८७९ में सर विलियम क्रुक्स ने कुछ इसी प्रकार की शक्तिशाली विद्युत्-किरणों का पता लगाया था और तत्पश्चात् सर जाज़फ टॉमसन और कुछ अन्य वैज्ञानिक अन्वेषकों ने इन किरणों को निषेधात्मक विद्युत्-कणों से युक्त माना था, जिनमें हाइड्रोजन एटम का हज़ारवाँ अंश विद्यमान था। सन् १८९६ में पीरी क्यूरी के एक सहयोगी बेक़रल को वैज्ञानिक-परीक्षण करते करते सहसा यह ज्ञात हुआ कि यूरेनियम में कुछ ऐसी अद्भुत

प्रकाशमय रश्मियाँ फूटती हैं जिनमें हरी, पीली, नीली दमक होती है। मेरी इस नई खोज से बहुत अधिक प्रभावित हुई और विभिन्न लवणमय रासायनिक द्रव्यों में लाल किरणों वाले एक पृथक् तत्त्व के अनुसन्धान में लग गई, जिसकी अभी तक कोई कल्पना भी न कर पाया था।

पीरी क्यूरी उन दिनों अपने निजी वैज्ञानिक-अन्वेषण में लगे थे, लेकिन इस नये तत्त्व की खोज में उन दोनों ने अपनी संयुक्त शक्ति का उपयोग किया। वे एलेक्ट्रेस्कोप नामक एक छोटे से यन्त्र की सहायता से इस सर्वथा भिन्न लाल तत्त्व की उपलब्धि में जुट गये, किन्तु इसके लिये बहुत अधिक रासायनिक-द्रव्य की आवश्यकता थी, जिसे खरीदने के लिये उनके पास पैसे न थे। अन्ततः आस्ट्रियन सरकार ने कृपापूर्वक बोहेमिया की अपनी खानों से उनके लिये एक टन कच्चा धातु भेजा, जिसे रात-दिन कड़ा श्रम करके अग्नि पर गलाना, पसाना, छानना, निथारना और साफ़ करना पड़ता। कार्य दुष्कर था। सप्ताह और महीने गुज़र गये, दोनों पति-पत्नी दिन भर एक बड़े से बर्त्तन में चमचा घुमाते-घुमाते थक जाते। अन्त में एक रात को कुछ भारी-सा चमकदार लाल तत्त्व दीख पड़ा, जिसका नाम मैडेम क्यूरी ने अपनी जन्म-भूमि पोलैण्ड की स्मृति में पोलोनियम रखा। किन्तु अभी भी परीक्षण समाप्त न हुआ था। इस भारी ठोस वस्तु से उन्हें अब यह स्पष्ट हो गया था कि इसके भीतर कुछ न कुछ ऐसा अंश विद्यमान है जो अलौकिक विद्युत्-शक्ति सम्पन्न है।

अत्यन्त परिश्रम और धैर्य से दोनों ने अनुसंधान-कार्य जारी रखा। सन् १६२० में, चार वर्ष पश्चात्, वे रेडियम को अन्य तत्त्वों से पृथक् करने में सफल हुये, जो एक टन कच्ची धातुसे केवल एक छोटी चम्मच निकला था। उसमें से प्रस्फुटित होने वाली किरणें इतनी तेज़ और शक्तिशाली थीं कि रेडियम की ट्यूब छूने से पीरी के हाथ जल गये थे और कई दिन बाद ठीक हुए थे।

सन् १६०३ में 'पेरिस फैकल्टी आफ साइंस' के समक्ष मैडेम क्यूरी ने एक विस्तृत भाषण दिया, जिसमें उन्होंने रेडियम के आविष्कार, प्रयोग और लाभ समझाये। दूसरे दिन ही उनकी ख्याति

देश के कोने-कोने में फैल गई। उन्होंने अत्यन्त सम्मान से डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की और उनके इस सर्वथा नवीन, मौलिक और क्रान्तिकारी आविष्कार ने वैज्ञानिक-जगत् में तहलका मचा दिया।

इसी वर्ष लॉर्ड केल्विन के आमन्त्रण पर क्यूरी दम्पति लन्दन गये। वहाँ पीरी को रॉयल संस्था में रेडियम पर भाषण देने के लिये बुलाया गया था। उनके हाथ इतने घायल हो चुके थे कि स्वयं कपड़े पहनने में भी कष्ट होता था, किन्तु तो भी उन्होंने प्रयोग में आने वाले वैज्ञानिक-यन्त्रों को व्यवस्थित कर लिया और अपनी विलक्षण वक्तृत्व-शक्ति तथा रेडियम के क्रियात्मक रूप से अनेक प्रयोग दिखा कर सभी को चकित कर दिया। 'रॉयल सोसायटी' की ओर से दोनों को संयुक्त रूप से डेवी पदक प्रदान किया गया।

सन् १९०३ का नोबल पुरस्कार बेक़रल और इन दोनों के बीच समान रूप से विभक्त कर दिया गया, जिससे इन्हें पर्याप्त आर्थिक सहायता मिल गई। आगामी वर्ष फ्रांसीसी सरकार ने सारबोन में पीरी को उच्च-पद पर नियुक्त किया और मैडेम क्यूरी भी अपने पति के साथ 'चीफ ऑफ स्टाफ' बना दी गईं। दोनों को अच्छा वेतन मिल रहा था। उनका गार्हस्थिक-जीवन सुखद और आनन्ददायी था। एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता था। उनकी ज्येष्ठ कन्या ईरेन के बाद एक और छोटी बालिका ने उन्हीं दिनों जन्म लिया, जिससे आमोद-प्रमोद और घर के व्यस्त वातावरण में वे दोनों बहुत खुश थे।

जीवन के स्वप्न, मेरी और पीरी के वैवाहिक-जीवन की अनुराग-रंजित कल्पनाएँ, जो अत्यधिक श्रम और विज्ञान की कठिन साधना से मूर्च्छित सी हो रही थीं, इन दो भोली, सुन्दरी बालिकाओं के कलरव से सहसा मुखरित सी हो उठीं और उनके पथ-श्रम-क्लांत जीवन की उदासी दूर करती हुई हर्षोत्फुल्ल प्राणों में स्निग्ध, कोमल और उन्मादक रश्मियाँ बिखेर गईं। दम्पति का जीवन सार्थक हो गया। दोनों में प्रेम भी अपूर्व था; उनके हृदय का समस्त अनुराग, समस्त सौन्दर्य एक-दूसरे के चरणों पर बिछा था। मेरी ने लिखा है, "अपने ग्यारह वर्ष के वैवाहिक-जीवन में हम कभी भी एक दूसरे से पृथक् न हुए,

फलतः हम दोनों के परस्पर पत्र-व्यवहार की एक पंक्ति भी लिखी हुई नहीं है।"

किन्तु तभी दुर्भाग्य का झोंका-सा आया।

सन् १९०६ में एक दिन पीरी क्यूरी 'साइंस एसोसिएशन' में अपने कुछ घनिष्ठ मित्रों के साथ भोजन करने गये। उस दिन वे अत्यन्त खुश नज़र आ रहे थे, जिसका कारण उन्होंने भोजन करते हुए अपने मित्रों से बताया था कि आज से अध्यापन-कार्य छोड़ कर वे अपना समस्त जीवन वैज्ञानिक-साधना में लगाएँगे। संध्या-समय प्रिय पत्नी से मिलने की उमंग में वे पैदल ही घर की ओर चल पड़े, किन्तु घर पहुँचने भी न पाए थे कि मार्ग में ही एक व्यस्त सड़क के मोड़ पर घोड़ा-गाड़ी की झपेट में आ गये, जिससे वहीं तत्क्षण उनकी मृत्यु हो गई।

मेरी पर वज्राघात हुआ। जीवन का सारा सुख, समस्त उल्लास क्षण भर में तिरोहित हो गया। उनके कोमल मस्तिष्क की शिराएँ उन सर्वनाशी क्षणों की स्मृति के कठोर आघात को सहन करने में असमर्थ थीं। वे कुछ दिन तक विक्षिप्त सी रहीं। उनकी भयंकर कारुणिक स्थिति देखकर कभी-कभी यह भय होता था कि कदाचित् दुर्भाग्य में झुलसी उनकी जीवन-पंखुड़ियाँ सर्वथा मुरझा न जायें, किन्तु अपनी अबोध बालिकाओं की खातिर और पीरी के इन शब्दों को याद करके कि कर्त्तव्य प्रेम से श्रेष्ठ है उन्होंने अपने को स्वस्थ किया और पुनः प्रयोगशाला जाकर उस विस्मृत वैज्ञानिक-साधना को पुनर्जाग्रत किया जिसके लिए पीरी ने अपना जीवन अर्पण कर दिया था। पीरी के स्थान पर वे अवैतनिक प्रोफेसर नियुक्त की गई।

मस्तिष्क में तूफ़ान लिए वे मूक तपस्विनी की भाँति धैर्यपूर्वक काम में निरत रहीं, लेकिन उन्होंने बाहर आना-जाना और किसी से मिलना-जुलना क़तई बन्द कर दिया था। पति की असामयिक मृत्यु से जो एक प्रचण्ड विरक्ति उनके अन्तर में घनीभूत हो गई थी, वह उनके जीवन-काल में ज्यों की त्यों बनी रही। जब कभी भी उन्हें एकांत मिलता अथवा रजनी की नीरवता का अन्धकार उनके उद्भ्रांत मानस पर छा जाता, तभी उनके प्राणों का कण-कण आहत होकर पीरी के

लिए तड़पने लगता, हृदय में रह-रह कर एक टीस-सी उठती और
चिल्ला पड़तीं, "पीरी ! तुम कहाँ हो ?"

परन्तु ऐसी दारुण स्थिति में भी वे कर्त्तव्य से पीछे नहीं हट
उन्होंने अपने मित्रों को आश्वासन दिया था कि वे उन वैज्ञानि
प्रयोगों को सदैव आगे ही बढ़ायेंगी जिनको पीरी और उन्
मिलकर आरम्भ किया था। सन् १६१० में वे रेडियम के स्वरूप
स्पष्ट करने में सफल हुई और वैधव्य की भीषण यातना झेलने
बावजूद भी उन्होंने अपने वैज्ञानिक प्रयोगोंका विस्तृत विवरण देते
एक हज़ार पृष्ठ की पुस्तक लिखी, जिसपर उन्हें पुनः १६११ का नो
पुरस्कार प्रदान किया गया। अपनी सत्सेवाओं के कारण उ
'स्वीडिश रॉयल एकेडमी' का सदस्य घोषित किया गया, लेकिन चू
आज तक एकेडमी की कोई स्त्री सदस्य न हुई थी—इस आधार
फ्रैंच संस्था ने उन्हें सदस्य बनाना स्वीकार न किया।

इस पर फ्रांसीसी सरकार ने उनके लिए एक नई रेडियम सं
खोल दी, जिसका उन्हें प्रधान बनाया गया। १६१४ में जब प्र
महायुद्ध आरम्भ हुआ तो उन्हें युद्धभूमि के इर्द-गिर्द सभी अस्पताल
निरीक्षण और रेडियम विभाग की सुव्यवस्था का भार सौंपा ग...,
जहाँ वे स्वयं घूम-घूमकर घायलों और रोगियों की परिचर्या करती थीं।

मैडेम क्यूरी का जीवन निरंतर विकासशील होते हुए भी सदैव
अपरिवर्त्तित रहा। प्रसिद्धि की चरमता पर पहुँच कर भी वे निर्दम्भ
और सरल बनी रहीं। सैकड़ों-हज़ारों कैमरामैन, पत्र-प्रतिनिधि, सम्वाद-
दाता देश के कोने-कोने से उनके पास इंटरव्यू के लिये आते थे, किन्तु
उन्हें अशान्ति और हाहाकार कभी प्रिय न हुआ। दुनिया से दूर-एकांत
चिंतन-रत अथवा प्रयोगशाला में काम करना ही उन्हें अधिक पसन्द
था। उनके जीवन का एक निर्णीत आदर्शवाद था, जिस पर वे आजन्म
अडिग रहीं। उनका व्यक्तित्व एक ओर अत्यंत कठोर और दृढ़ था,
दूसरी ओर अत्यन्त कोमल और स्निग्ध। कोई भी जो उनके पतले-दुबले
शरीर और सीधे-सादे वेष को देखता, वह यह कल्पना नहीं कर सकता
था कि ये ही विस्मयजनक रेडियम की आविष्कर्त्री, अनेक विश्व-
विद्यालयों की डॉक्टर-उपाधि से विभूषित, विभिन्न संस्थाओं की

सदस्य, दो बार नोबल पुरस्कार विजेता, साथ ही स्नेह, त्याग, सेवा की मूर्त्तिमान् प्रतीक, पतिप्राणा नारी और अपने बालकों की स्नेहमयी जननी मैडेम क्यूरी हैं। राह में चलते हुए यदि कोई कैमरामैन अथवा पत्र-प्रतिनिधि उन्हें पहचान लेता और पूछता कि क्या आप ही मैडम क्यूरी हैं तो वे हँस कर उत्तर देतीं, "नहीं, आप भूल कर रहे हैं"। निःसन्देह, उनका निरभिमान किन्तु अद्भुत और बहु-गुण-समन्वित व्यक्तित्व ऐसे निर्माणक तत्त्वों से गुँथा था जिनको उन्होंने अपने कृतित्त्व में सार्थक कर विश्व को चकाचौंध कर दिया था।

मैडेम मांटेसरी

जन्म तिथि : ३१ अगस्त, १८७०
जन्म स्थान : चियरावल्ली (इटली)

मैडेम मांटेसरी

यदा-कदा राष्ट्रीय क्षितिज पर ऐसी उदीयमान नारियाँ प्रकट हो आती हैं, जिनका मानसिक धरातल मानवता की सामान्य सतह से ऊपर होता है। यद्यपि उनकी प्रवृत्तियों का क्षेत्र व्यावहारिक जगत् है, तथापि उनकी आध्यात्मिक प्रेरणा समस्त मानवता का हित-सम्पादन करती हुई उनसे भी परे बहुत दूर पहुँच जाती है और सांसारिकता को उस प्रकाश की ओर उन्मुख करती है जिसका उद्‌गम ज्ञान के शाश्वत स्रोत में है।

मैडेम मेरिया मांटेसरी इटली की ही नहीं, वरन् विश्व की महान् नारियों में से एक हैं। प्रारम्भ से ही उनमें ऐसी शक्ति अंतर्निहित थी कि उन्होंने बाल-स्वभाव की गहराइयों में प्रवेश करके उसके स्वरूप को समझा, अपनी लोकोत्तर प्रतिभा एवं एकाग्र-निष्ठा

के फलस्वरूप बाल-शिक्षण-समस्या को समझने और सुलझाने का प्रयत्न किया। यही नहीं, प्रत्युत उन्होंने बालकों का हितचिंतन ही अपने जीवन का ध्येय बनाया और उनके कल्याण के लिए कुछ उठा न रखा। शैशव की सरल क्रीड़ा में उन्होंने भगवत्-शक्ति का दर्शन किया; बालक की निरीहता में उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ; जीवन-संघर्ष से विरत उन्होंने शैशव के मधुर-रस का आकंठ पान किया। आनन्द की पूर्णता में उनका स्वर मूक हो गया, उनकी मधुर कल्लोलों में वे खो गईं, रम गईं। समाज के प्रमुख अंग—बालक-की पतनोन्मुख दशा देख एक दिन उनके कोमल कपोलों पर अश्रु-बिंदु छलक पड़े थे, तभी उन्होंने मानों अपने मन में यह दृढ़ संकल्प कर लिया था कि वे नये सिरे से बालक में जीवन के अर्थ का अन्वेषण करेंगी और उसके मानसिक विकास एवं शैक्षणिक उन्नति के लिये जी-जान से जुट जायँगी।

३१ अगस्त, सन् १८७० में इटली के चियरावल्ली नामक ग्राम में मैडेम मांटेसरी ने जन्म लिया था। माता-पिता की इकलौती संतति होने के कारण उनका लालन-पालन अत्यंत लाड़-प्यार से किया गया। उस समय इटली में सामाजिक बंधन कड़े थे और स्त्री-शिक्षा का कम प्रचार था, किन्तु मैडेम मांटेसरी का परिवार सुधारवादी परिवार माना जाता था, अतएव उन्होंने लोकापवाद की पर्वाह न करके पढ़ना प्रारंभ किया। ग्यारह वर्ष तक उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। स्कूल में इनकी प्रगति इतनी शानदार रही कि इनकी प्रखर बुद्धि पर सभी दंग रह जाते थे। सहपाठी इनका सम्मान करते और शिक्षक इन पर कृपा-दृष्टि रखते थे, किंतु तो भी मैडेम असंतुष्ट रहतीं। उस समय की शिक्षा-प्रणाली उन्हें अपने अनुकूल नहीं जँची, इसलिए वे इंजीनियरिंग कालिज में प्रविष्ट हुईं। स्कूल में अकेली होने के कारण उन्हें अनेक कठिनाइयों और मुसीबतों का सामना करना पड़ा। उन्हें घोर नियंत्रण में रहना पड़ता, सभी विद्यार्थियों से पृथक् बैठना पड़ता और स्कूल आने-जाने में किसी संरक्षक को साथ लेना पड़ता; किन्तु ये तो स्वयं कठोर नियन्त्रण की क़ायल थीं और उनके जीवन का प्रत्येक अंश एवं प्रत्येक पहलू साधना की भट्टी में तपता हुआ अंगारा

था। उनकी विशाल एवं पैनी दृष्टि ने बहुत पहले ही भाँप लिया था कि समाज को परिवर्त्तित करने के लिए उसके प्रत्येक प्रधान व्यापार और व्यवहार को बदल डालना होगा। अपने जीवन में प्रारम्भ से ही उन्हें संघर्ष करने पड़े थे और सामाजिक नियमों का बहिष्कार करने के लिए घोर कशमकश करनी पड़ी थी। इसके फलस्वरूप वे विचार-स्वातन्त्र्य की पक्षपाती बन गईं और मानव-जाति का कल्याण करने की उत्कट अभिलाषा उनमें जागृत हुई। वे चिकित्सक बनकर मानव-जाति की सेवा में संलग्न हो जाना चाहती थीं, किन्तु सामाजिक परिस्थितियाँ उनके अनुकूल न थीं। मार्ग में अनेक रुकावटें पड़ीं, बहुतों ने विरोध किया, यहाँ तक कि माता-पिता भी डॉक्टर बनने की अनुमति न देते थे, किंतु इस सबके होने पर भी दृढ़ संकल्प से मैडेम विचलित नहीं हुईं और कई वर्षों की कठोर तपश्चर्या के पश्चात् सन् १८९६ में रोम-विश्वविद्यालय से एम० डी० की उपाधि प्राप्त की। इसके पश्चात् उन्होंने बर्लिन में होने वाली 'फेमिनिस्ट कान्फ्रेंस' में समस्त इटली की ओर से प्रतिनिधित्व किया। यह कान्फ्रेंस स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के दृष्टिकोण से की गई थी। वहाँ से लौटने के बाद वे रोम के मेंटल हास्पिटल में सहायक डॉक्टर नियुक्त हो गईं, किन्तु हस्पताल में रोगियों की दयनीय स्थिति देखकर उन्हें महान् दुःख और आश्चर्य हुआ; ख़ासकर उन अबोध मंद-बुद्धि बालकों की चिकित्सा-प्रणाली पर जिन्हें पागल समझे जाने के कारण अनेक अपमान और यातनाएँ सहनी पड़ती थीं। उसी समय मैडेम के जीवन में महान् क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। वे चिकित्सक से शिक्षिका बन गईं। उनमें अकस्मात् विशाल मातृ-भावना का उदय हुआ। उनके हृदय की प्रीति और सहानुभूति के विशाल अंचल में सहसा विश्व-प्राण का स्पन्दन जाग उठा।

उनके लिए प्रेम, परोपकार और सेवा केवल दूर का प्रकाश-स्तम्भ नहीं था, प्रत्युत उन्होंने तो अपने हृदय को बालक-मात्र की वेदना में तपा-तपा कर आदर्श के सूर्य में बदल देने की महान् योग-साधना की थी और संसार साक्षी है कि अपने सिद्धांत की भित्ति पर उनके पैर इतनी दृढ़ता से टिके हुए हैं कि उनका उठने वाला हरेक क़दम मानवता के कल्याण और मंगल के लिए आगे बढ़ता है। उन्होंने जीवन के

अंतिम श्वास तक बालकों की सेवा का व्रत ले लिया है।

उन्होंने बहुत शीघ्र ही यह जान लिया था कि बालक ज़ोर-ज़बर्दस्ती की चीज़ नहीं, उनका स्वाभाविक विकास होना अत्यावश्यक है। उनका छोटा सा व्यक्तित्व अपना पृथक् व्यक्तित्व रखता है। उनकी दुनिया निराली है। उनमें विचारने, समझने और कल्पना करने की शक्ति जन्म से ही अंतर्निहित होती है; अतएव बालकों पर दबाव डालना अथवा किसी प्रकार की पाबन्दी लगाना या अधिकार जमाना हमारी सरासर भूल है, ग़लती है। हमें उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन न करके इस बात का सुअवसर देना चाहिए कि वे अपने अंतर्निहित गुणों का भली भाँति प्रदर्शन करें और सुयोग्य शिक्षण के द्वारा अपना अधिकाधिक मानसिक एवं बौद्धिक विकास करें। डॉक्टर मांटेसरी ने बाल-प्रवृत्तियों का बहुत बारीक़ी से अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचीं कि बालकों की पतनोन्मुख दशा योग्य शिक्षण के अभाव के कारण है। उन्होंने मनोवैज्ञानिक कसौटी पर बाल-शिक्षण-पद्धति के प्रयोगों को जाँचना प्रारम्भ किया और घण्टों एकनिष्ठ-बुद्धि से उस पर विचार एवं मनन करती रहीं। वे इटली और लंदन भी गईं और वहाँ की बाल-शिक्षण की तत्कालीन प्रचलित पद्धतियों का अध्ययन किया। उन्होंने सन् १८६८ में टयूरिन में होने वाली शिक्षा-कान्फ्रेन्स में अपने अनुभवों और बाल-शिक्षण के नवीन प्रयोगों पर प्रकाश डाला और शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान इस ओर खींचा। तत्पश्चात् वे सन् १६०४ में रोम-विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य करने लगीं।

विगत कई वर्षों से वे बालकों के शैक्षणिक-प्रयोगों पर कार्य कर रही थीं। उन्हें अपने विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए आवश्यक प्रेरणाएँ एवं सुअवसर मिले। उन्होंने शिक्षण पहलू के साथ ही साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं को भी उन्नत करने का प्रयत्न किया। उन्होंने नवीन बाल-शिक्षण-पद्धति पर स्कूलों एवं बाल-शिक्षणालयों को खोलने का प्रयास किया और इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्राणपण से चेष्टा की। उनकी कार्यशक्ति ने कभी परिश्रांति का अनुभव न किया था। मानव-हित की भावना से उनका समस्त जीवन ओतप्रोत था। वे निरन्तर कार्य-व्यस्त रहती और सब बातों की चिंता रखती थीं।

सन् १९०६ में वे मज़दूर-वर्ग के नेता सीन्योर एडवर्ड टालमो से मिलीं। इन दिनों इटली में मज़दूरों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी मज़दूरों के बच्चे असभ्य, अशिक्षित और घोर अंधकार में पड़े थे टालमो ने मैडेम मांटेसरी से मिलकर उनके शिक्षण की व्यवस्था और 'कासा डी बाम्बिनी' बालगृह का उद्घाटन किया। दूसरे वर्ष एक और बालगृह खोला गया। इस प्रकार डॉक्टर मांटेसरी ने अपने स्वाभाविक उत्साह और अनन्यता के साथ इन संस्थाओं को देश के सर्वोत्तम बाल-शिक्षणालयों के बीच प्रतिष्ठित स्थान पर पहुँचाने के लिए घोर परिश्रम किया। वे मज़दूरों के लिए साक्षात् देवी सिद्ध हुईं। वे सच्चे अर्थ में उनकी माता थीं और अहर्निश एक माँ की भाँति बालगृह की व्यवस्था में तल्लीन रहती थीं। इन संस्थाओं की महान् संस्थापिका होने और विद्वत्ता एवं योग्यता के कारण वे अति शीघ्र ही लोगों की श्रद्धा की पात्र बन गईं और उनका आकर्षक व्यक्तित्व बाल-शिक्षण की नवीन योजना को कार्यान्वित करने के लिए शिक्षा-कला-विशारदों के एक बहुत बड़े समूह को खींच लाया। तत्पश्चात् रोम में 'अन्तर्राष्ट्रीय मांटेसरी शिक्षण-संघ' का प्रथम अधिवेशन हुआ और समस्त प्रमुख देशों—इटली, जापान, हालैण्ड, इंगलैंड, ग्रीनलैंड, डेनमार्क, अमेरिका स्विटज़रलैंड आदि में मांटेसरी-पद्धति पर स्कूल खोले गये।

नवम्बर, सन् १९३० में मैडेम सर्वप्रथम भारत में पधारीं। उन्हें यहाँ बुलाने का श्रेय थियोसॉफिकल सोसाइटी के अध्यक्ष स्वर्गीय डॉक्टर जी० एस० अरुण्डेल को है, जिन्होंने डॉक्टर एनी बेसेंट के शताब्दी-उत्सव में सम्मिलित होने के लिए उन्हें आमन्त्रित किया था भारत में ये कई वर्ष रहीं और इन्होंने यहाँ रहकर अपनी शिक्षण पद्धति का खूब प्रचार किया। आजकल मद्रास, गुजरात, काठियावाड़ अहमदाबाद, मुरादाबाद, ग्वालियर, दादर, पिलानी (जयपुर) रायपुर, सीतापुर, दिल्ली आदि कई स्थानों में मांटेसरी-पद्धति पर स्कूल चल रहे हैं।

डॉ० मांटेसरी अत्यंत विदुषी और इंग्लिश, लैटिन, फ्रेंच जर्मन, स्पेनिश आदि कई भाषाओं की पंडिता हैं। नवीन बाल-शिक्षण पद्धति पर लिखी हुई पुस्तकों से उनकी विलक्षण प्रतिभा और सूक्ष्म

अंतर्दृष्टि का परिचय मिलता है। 'दी मांटेसरी मेथड' (The Montessori Method), 'दी सिक्रेट ऑफ चाइल्डहुड' (The Secret of Childhood), 'दी चाइल्ड' (The Child), 'ए मेथड ऑफ़ साइण्टिफिक पेडालोजी' (A Method of Scientific Pedalogy), 'एजूकेशन फार न्यू वर्ल्ड' (Education for New World), 'पीस एण्ड एजूकेशन' (Peace & Education), 'एजूकेशन इन दी एलीमेण्टरी स्कूल्स' (Education in the Elementary Schools) आदि इनकी लिखी हुई पुस्तकें हैं, जिन में से कुछ पुस्तकों का तो कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

निःसन्देह, मैडेम मांटेसरी की इतने वर्षों की एकान्त-साधना एवं कठोर तपश्चर्या ने उन्हें आज उस ऊँचाई तक पहुँचा दिया है, जहाँ से उनके कार्यों का आलोक युग-युगान्तर तक विश्व को आलोकित करता रहेगा।

मैडेम च्याँग-काई-शेक

जन्म तिथि : १८६६

जन्म स्थान : शांघाई (चीन)

मैडेम च्याँग-काई-शेक

चीनी प्रजातन्त्र के संस्थापक, जन-राष्ट्र के निर्माता जेनरल च्यॉंग-काई-शेक की अर्द्धांगिनी मैडम च्यॉंग आज विश्व की सबसे अपूर्व, साहसी और निर्भीक नारी हैं। वे चीन के राष्ट्रीय-इतिहास की ही अधिनायिका नहीं हैं, उन्होंने क्रियात्मक जीवन का प्राण बनकर न केवल चीनियों में एकता, शक्ति और स्वतन्त्रता की गौरवपूर्ण चेतना भरी है, वरन् आधुनिक युग की अंतर्राष्ट्रीय-ख्याति-प्राप्त महिलाओं में उनका प्रमुख स्थान है और उनके राजनैतिक कार्यों एवं विचारों से न केवल चीन वरन् समस्त संसार प्रभावित हुआ है। उनके समुज्ज्वल चरित्र की आभा भूमण्डल के कोने-कोने में प्रविष्ट हो गई है।

मैडम च्यॉंग-काई-शेक का जन्म शांघाई में सन् १८६६ में हुआ। इनके पिता निर्धनता के कारण अमेरिका के संयुक्त-राष्ट्र में जीवन-यापन के लिए चले गए थे। वहाँ उन्होंने ईसाई-धर्म ग्रहण किया और खूब धन कमाया। ये अपने पिता की सबसे छोटी पुत्री थीं और इनका नाम मेलिंग था, जिसका अर्थ है 'सुन्दर-जीवन'। बाल्यावस्था से ही इनमें अपूर्व साहस और विलक्षण प्रतिभा थी। साहित्यिक अभिरुचि के होने के कारण इन्होंने शीघ्र ही पढ़ने में प्रगति की और अपनी निर्भीकता, बुद्धि-प्रखरता एवं सहज अंतश्चेतना से अपने सहपाठियों को चकित कर दिया। १६ वर्ष की अवस्था में अमेरिका के कॉलेज से इन्होंने बी. ए. की परीक्षा सर्वप्रथम श्रेणी में पास की।

अध्ययन के पश्चात् जब ये स्वदेश लौटीं तो चीन की राजनैतिक-स्थिति में अनेक परिवर्त्तन हो गए थे। लिबरल गवर्नमेण्ट का पतन हो चुका था और डॉक्टर सन्-यात-सेन को भी कुछ समय के लिए जापान भागने को बाध्य होना पड़ा था। चीन की इस समय की स्थिति अत्यंत दयनीय थी और वह एक ऐसे दुर्वह भार के नीचे दबा कराह रहा था जिसके गर्भ में थी निराशा और निस्सहाय अवस्था, और प्रकाश की एक भी रेखा दृष्टिगत नहीं हो रही थी। मंचू लोगों द्वारा उत्तरी-प्रान्तों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था और देश में गृह-युद्ध की चिनगारी सुलग रही थी।

इन दिनों शांघाई में अकस्मात् सुन्दरी मेलिंग की डॉक्टर सन् के सहायक और सैन्य-सलाहकार दुर्दमनीय मार्शल च्यांग-काई-शेक से भेंट हुई। दोनों एक दूसरे पर आसक्त हो गए। च्यांक-काई-शेक ने मेलिंग की माता से विवाह की अनुमति माँगी, किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया। च्यांग-काई-शेक अपनी पूर्वपत्नी को तलाक दे चुके थे और शुद्ध क्रिश्चियन भी नहीं थे—ये दोनों बातें ऐसी थीं जिससे लोगों की सद्भावना इनके प्रति न हो सकी। युवक च्यांग निराश होकर अपने पथ-प्रदर्शक डॉक्टर सन् से सलाह लेने गए। उन्होंने आदेश किया, "कुछ दिन प्रतीक्षा करो"। दृढ़व्रती एवं संयमी च्यांग ने पूरे दस वर्ष तक प्रतीक्षा की। दुःख एवं निराशा उन्हें विचलित करने में असमर्थ रही। किन्तु ज्यों ही वे अपने अदम्य उत्साह, धैर्य और साहस के कारण चीन के अधिनायक हुए, त्यों ही उनकी चिरकांक्षित अभिलाषा पूर्ण हो गई।

पहली दिसम्बर, सन् १९२७ को चीन के कर्णधार, दीर्घकाल तक जापान जैसे प्रबल राष्ट्र का एकाकी सामना करने वाले लौह-पुरुष जेनरल च्यांग-काई-शेक का शुभ-विवाह सुन्दरी मेलिंग से सम्पन्न हुआ। चीन के सर्वेसर्वा ने चिरकाल के बाद अपनी हृदयेश्वरी को प्राप्त किया। इस समय तक डॉक्टर सन्-यात-सेन की मृत्यु हो चुकी थी और चीन में वैमनस्य एवं पारस्परिक कटुता के चिह्न अभी
ट थे। ऐसे मुहूर्त्त में इस दम्पति का अवतरण चीन की
गत, चिर-प्रतिष्ठित, सुनिर्धारित विचारधारा एवं राजनीति

की छाती पर एक अद्‌भुत प्रहार के रूप में जान पड़ा। साथ ही साथ वह आशा की एक किरण के रूप में भी लगा, जो निराशा के अन्धकार में फूट पड़ी थी। ज्यों-ज्यों ऐसी महानतम अद्‌भुत शक्ति की वास्तविकता और उनके गुरुतर कार्य के अस्तित्व और निरन्तर स्थिर प्रगति का विश्वास लोगों को होता गया, त्यों-त्यों उनकी श्रद्धा और प्रेम बढ़ता गया—मानों दो महान् विभूतियाँ अकस्मात् अंतरिक्ष में अवतीर्ण हुई हों, जिनके आजानु-प्रलम्ब करों में अमर आलोकमयी मशाल प्रज्वलित हो और जो इस सांस्कृतिक वसुन्धरा का कल्याण करने आए हों। जेनरल च्याँग में वीरता और अदम्य उत्साह तो था ही, अब पत्नी के संसर्ग से उनमें नवीन शक्ति एवं स्फूर्ति का प्रस्फुरण हुआ। मैडम च्याँग-काई-शेक अत्यन्त स्थितप्रज्ञ महिला थीं। उन्होंने पति के जीवन में प्रवेश करते ही अपने अपूर्व स्नेह एवं आत्मबल से उनके जीवन पर प्रभाव डाला। पत्नी के साहचर्य ने उन्हें महान् सैनिक से महान् व्यक्ति में परिवर्त्तित कर दिया।

चीन को उस समय उनकी सहायता की अपेक्षा थी। डॉक्टर सन्-यात-सेन का चीन को संगठित देखने का स्वप्न भंग हो चुका था। साम्यवादियों के एक दल ने च्याँग के विरुद्ध उत्तरी-इलाकों को अधिकृत कर लिया था और उन्होंने अपनी सत्ता हाँगकाँग में स्थापित कर ली थी। किन्तु इन सब विपत्तियों और खतरों के बावजूद भी मैडम च्याँग विचलित नहीं हुई और वे अपने पति के साथ शांघाई के सुन्दर नगर को छोड़कर समुद्र के किनारे स्थित नानकिंग में एक छोटी सी कुटिया में जाकर रहीं, जिससे कि वे नए चीन की राजधानी का निर्माण कर सकें।

नानकिंग एक छोटा सा गंदा गाँव था। मकान भी कच्चे और ठण्डे थे। इसकी गलियाँ भी इतनी तंग और सँकरी थी कि दो गाड़ियाँ साथ साथ नहीं गुजर सकती थीं, किन्तु च्याँग दम्पति ने हिम्मत न हारी और मैडम च्याँग ने अत्यन्त धैर्य एवं साहस का परिचय दिया। उन्होंने बालकों के लिए कई स्कूल खोले और अपने आदर्शों के मुताबिक़ शिक्षा दी। कुछ वर्ष पश्चात् उन्होंने लिखा—"ये बच्चे, मुझे ऐसा प्रतीत होता है, राष्ट्र के सच्चे वीर सेनानी होंगे। यदि इनके

चरित्र का ठीक निर्माण किया गया तो ये अपने देश को गौरवान्वित करेंगे, क्योंकि इनमें क्रान्ति की चिनगारियाँ सुलग रही हैं।" उन्होंने इन भावी नागरिकों में कर्मण्यता एवं शक्ति का मंत्र फूँका।

यही नहीं, वरन् उन्होंने अपने जीवन-सहचर जनरल च्यांग-काई-शेक में भी कर्त्तव्य की भावना भरी। लम्बे एकान्त क्षणों में, प्रणय की निर्जन रात्रियों में तथा पारस्परिक विचारों के आदान-प्रदान में उन्होंने अपने स्वामी में अभिलाषाएं जागृत कीं। पत्नी की प्रेरणा एवं माता से प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण जनरल च्यांग-काई-शेक ने न्यू टेस्टामेण्ट (New Testament) का अध्ययन किया और क्रिश्चियन हुए। पत्नी के सहयोग से ही उन्होंने पाश्चात्य आदर्शों और विशेषकर अमेरिकन नीति शास्त्र की शिक्षा ग्रहण की। पत्नी के आग्रह से ही वे टॉमस जेफरसन की राजनीतिक-दार्शनिकता और अब्राहिम लिंकन के सामाजिक रहस्यवाद से अवगत हुए।

च्यांग दम्पति स्नेह-रज्जु में बँधे हैं। जेनरल च्यांग पत्नी में अनुरक्त हैं और मैडम च्यांग पति की पथ-प्रदर्शिका एवं अनुगामिनी हैं। उत्तर में कम्युनिस्टों के विद्रोह करने पर जब जेनरल च्यांग ने प्रस्थान किया था तो ये भी उनके साथ गईं और झोंपड़ी एवं सड़कों पर रहकर अनेक कठिनाइयों का सामना किया। उस समय चीन के उत्तरी-प्रदेश के निवासियों की अत्यन्त दयनीय अवस्था थी। उनमें अभी तक अंध-विश्वास, अज्ञानता और प्राचीन रूढ़ियाँ जड़ जमाए थीं और अपने ही अतीत में अनन्त शक्ति के प्रसुप्त पड़े रहने का उन्हें ज्ञान न था, अतएव इन्होंने प्रण किया कि ये चीन में नई विचारधारा की प्रवर्त्तिका बनेंगी और चीन की प्राचीन संस्कृति को अपने यथार्थ रूप में जागृत करेंगी।

दिन-दिन मैडम च्यांग-काई-शेक का कार्यक्षेत्र व्यापक होता गया। इन्हें निरन्तर यह चिन्ता रहने लगी कि देश में नैतिक बल, एकता, शक्ति एवं राष्ट्रीयता कैसे उत्पन्न की जाय? समाज और व्यक्ति की नैतिक दुर्बलताओं और दुष्प्रवृत्तियों को किस प्रकार दूर किया जाय? उनके समक्ष अधिकारों का प्रश्न नहीं था। मनुष्य को कर्त्तव्य ा चाहिए—अधिकार तो स्वयं ही मिल जाएँगे। उन्होंने चीन के

राष्ट्रवाद को बलिष्ठ पार्श्वभूमि देने के हेतु उसे अपने अतीत से पोषण प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त किया और इसी अभिप्राय को लेकर 'नवजीवन आंदोलन' (New Life Movement) का सूत्रपात किया, जो राजनैतिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित था और जिसमें स्त्रियों की उन्नति को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया था। इस आन्दोलन में महिलाओं के लिए आठ कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है; यथा—भक्ति, पवित्रता, प्रेम, पितृभक्ति, पतिव्रत-धर्म, शान्ति-प्रियता, न्याय-प्रियता और निर्भीकता। साथ ही सादगी और सदाचार पर भी जोर दिया गया है तथा सिगरेट, अफ़ीम, तम्बाकू आदि मादक द्रव्यों का भी निषेध है।

जन-जीवन को उन्नत और सभ्य बनाने के लिए मैडेम च्याँग ने अपने पति के साथ वायुयान द्वारा समस्त चीन देश का भ्रमण किया और घर-घर, गली-गली, गाँव-गाँव में घूम कर वहाँ की व्यावसायिक-स्थिति का अध्ययन किया। वे ऐसे ग्रामों, बीहड़ स्थानों और पहाड़ी इलाकों में गए, जहाँ कि सरकारी अफ़सर बहुत कम जाते थे और आर्थिक सुधार, स्वास्थ्योन्नति, व्यापार मार्ग के सुधार और उनमें वृद्धि तथा नवीन आविष्कारों आदि को प्रोत्साहन दिया।

एक बार सन् १६३६ में जनरल च्याँग-काई-शेक साम्यवादियों के हाथ शांसी प्रांत में बन्दी हो गए। उस समय उनके प्राणों को अत्यन्त खतरा था। क्षण भर में यह समाचार विद्युत् की भाँति समस्त विश्व में फैल गया और जब नानकिंग में यह बात ज्ञात हुई तो सारी जनता भय-विह्वल हो उठी। केवल मैडेम च्याँग-काई-शेक ही इस समाचार को सुन कर अविचलित रहीं। उन्होंने धैर्य नहीं खोया और तत्क्षण रेडियो द्वारा लोगों को शान्त रहने का आदेश दिया। उन्होंने शत्रुओं को भी यह संदेश भेजा कि वे शीघ्रता में ऐसा कोई कार्य नहीं करें जो देश और प्रजा के हित का बाधक हो। तत्पश्चात् वे वायुयान द्वारा अपने भाई टी. वी. सुंग और एक अमरीकन मित्र के साथ शांसी गईं। शत्रुओं के शिविर में घुसने से पूर्व इन्होंने अपने अमेरिकन मित्र क एक पिस्तौल दी और यह आदेश किया कि यदि कोई शत्रु उनके सम्मान पर प्रहार करे तो वह तुरन्त ही गोली से उन्हें खत्म कर दे।

इस नारी के अद्भुत धैर्य को देखकर शत्रु भी मुग्ध हो उठे और उन्होंने इन्हें पति के समीप जाने की अनुमति प्रदान की। जनरल च्याँग ने जब इन्हें अपने कमरे में देखा तो आश्चर्य में भर गए, "तुम यहाँ क्यों आई ?" और 'मैडम ने नटखट बालिका की भाँति उत्तर दिया, "तुम्हें देखने।" जनरल च्याँग के नेत्र अश्रुओं से भर गए और उन्होंने ईश्वर को धन्यवाद दिया। इस प्रकार पत्नी की कूटनीति एवं दूरदर्शिता से जनरल च्याँग के प्राणों की रक्षा हुई।

लड़ाई छिड़ने के पूर्व तक मैडेम च्याँग अपने पति के लिए व्याख्यान तैयार करतीं, उनकी चिट्ठियाँ टाइप करतीं और राजकीय मामलों में परामर्श भी देती थीं। ये इंग्लिश और फ्रेंच भाषा की पंडिता हैं, अतः जब कोई अंग्रेज़ अथवा फ्रांसीसी जनरल च्याँग से मिलने आता है तो ये दुभाषिए का कार्य करती हैं। चीन के सम्बन्ध में इन्होंने अंग्रेजी में अनेक पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें "चाइना एट क्रॉस रोड्स" (China at Cross Roads) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस पुस्तक में चीन के सामाजिक जीवन का बहुत ही सजीव चित्र खींचा गया है और अनेक समस्याओं का समाधान किया गया है।

चीन-जापान के युद्ध के दिनों में तो इनकी योग्यता, कार्यपटुता और साहस के प्रदर्शन का और भी सुअवसर प्राप्त हुआ। उन दिनों वायु-यान-सेना विभाग की देख-रेख ये ही करती थीं और इस विभाग की मंत्री भी थीं। इनकी कार्य-क्षमता और साहस देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता था। कभी ये ऑफ़िस में व्यस्त दिखाई पड़ती थीं, तो कभी रणक्षेत्र में पहुँच जाती थीं। चीन देश की इस वीर, साहसी नारी को यदि रणचण्डी का अवतार कहें तो अतिशयोक्ति न होगी।

आज च्याँग-दम्पति के भाग्याकाश पर विपत्ति के काले-काले बादल मँडरा रहे हैं। साम्राज्यवादिता, मानव-जीवन की दुर्व्यवस्थाओं एवं क्रान्ति की नई चेतना ने चीन के सामाजिक और राजनैतिक ढाँचे में युगान्तरकारी परिवर्त्तन ला दिया है, जिससे उनकी संयुक्त-शक्ति मूर्च्छित-सी हो रही है। भविष्य के गर्भ में क्या निहित है, इसे कौन बता सकता है!

मैडेम सन-यात-सेन

जन्म तिथि : सन् १८६०
जन्म स्थान : शांघाई (चीन)

मैडेम सन-यात-सेन

ऐसा मज़ाक में कई बार कहा जाता है कि लगभग एक तिहाई शताब्दी से चीन जैसा सुविशाल देश सुंग-कन्याओं द्वारा शासित हो रहा है। वे सीधे उसकी अधिनायिका न होकर विवाह द्वारा आधिपत्य जमाए हैं।

और इधर दो बहनों में तो मानों होड़ सी चल रही है। कभी एक का सितारा बुलन्द होता है तो कभी दूसरी का। सन् १९२५ तक जब तक कि डॉक्टर सन-यात-सेन चीनी-प्रजातन्त्र की अध्यक्षता करते रहे तब तक मैडेम सन ही वहाँ की हुकूमत की बागडोर हाथ में थामे चीनी नारी-आदर्श की गौरव-गरिमा को देश में चमत्कृत करती रहीं, किन्तु डॉक्टर सन की मृत्यु के पश्चात् जनरल च्याँग-काई-शेक ने उनका कार्य-क्रम संभाला और पति की बदौलत इनकी छोटी बहन मैडेम च्याँग वहाँ की अग्रगण्य महिला मानी जाने लगीं।

यद्यपि ये दोनों बहनें बचपन से साथ-साथ खेलीं, साथ-साथ पढ़ीं और साथ ही साथ बड़ी हुई हैं, तथापि दोनों के स्वभाव, प्रवृत्ति और विचारधारा में आकाश-पाताल का अन्तर है। मैडेम च्याँग स्वभावतः चंचल, फैशनेबुल, पति की महत्त्वाकांक्षाओं, सिद्धान्तों और आदर्शों की प्रतीक, राजसत्ता और शक्ति के मद में चूर तथा सौभाग्य और गौरव के सभी विकसित पहलुओं के उस चरम बिंदु पर पहुँचने की सदैव इच्छुक रही हैं, जिसपर अन्य कोई व्यक्ति कठिनता से ही वहाँ पहुँचने का गुमान करता है, किन्तु इसके ठीक विपरीत मैडेम सन उत्सर्ग, बलिदान, त्याग की प्रेरक, डॉक्टर सन जैसे कर्मठ और साहसी सेनानी की अन्तरतम भावनाओं को अनुप्राणित करने वाली पतिव्रता नारी, देश के ऐश्वर्य और विलासिता को कुचलकर मानव-प्रेम की अग्रदूत और चीन की वर्त्तमान प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली की संस्थापिका हैं। ये अपने देश की उन वीरांगना सुपुत्रियों में से हैं, जिन्होंने कोलाहल से दूर समस्त मानवीय सुखों को तिलाञ्जलि देकर और स्वेच्छा से निर्वासित जीवन व्यतीत करते हुए अपने राष्ट्र की सतत स्वतन्त्रता के लिए मूक साधना की है।

मैडेम सन के अन्तर में देश के प्रति अथक प्यार, अभागी और शोषित मानवता के लिए गहरी करुणा, संत्रस्त और युगों से पिसते चले आते हुए व्यक्ति के लिए आत्म-विश्वास और कोमलता का भाव विद्यमान है। वे लड़खड़ाती जीवन-स्थिति के महान् पथ पर अपने पति के चरण-चिह्नों का अनुसरण करती हुई निःस्वार्थ भाव से देश की स्वाधीनता, सम्मान और स्वतन्त्रता की रक्षा कर रही हैं। उनका देश-प्रेम अपूर्व है। किसी भी स्थिति में हताश अथवा विफल-प्रयास होना इन्होंने सीखा ही नहीं है। चीनी जनवादी परम्परा के अधिनायक डॉक्टर सन-यात-सेन के प्रमुख शिष्य और प्रबल समर्थक जनरल च्याँग-काई-शेक भी जब यशोलिप्सा और प्रभुत्व की लालसा में प्रजातन्त्र के मूल सिद्धान्तों को भूल गए तो इन्होंने प्रण किया कि ये चीन में सदैव स्वतन्त्र विचारधारा का ही प्रवर्त्तन करेंगी, सामन्त-वादिता और सामाजिक-दासता के बंधन को विच्छिन्न करके मानव को उसका यथार्थ रूप दर्शायेंगी और उसके स्वतन्त्र विचारों की सत्ता

में नई क्रान्ति-चेतना प्रक्षेपित कर उसके जीवन-स्तर को उन्नत बनाने का प्रयास करेंगी। यद्यपि इन्हें कई बार राजसत्ता का प्रलोभन दिया गया; अपने अद्भुत साहस और क्रान्तिकारी विचारों के कारण ये च्याँग द्वारा बन्दी भी बना ली गई थीं, तथापि कोई भी ताक़त, कठिन से कठिन परिस्थिति भी इन्हें चीनी साम्राज्यवादियों की गुलामी स्वीकार करने और उनके समक्ष घुटने टेकने के लिए विवश न कर सकी।

यही नहीं, मैडेम सन आरम्भ से ही निर्भीक और दृढ़-प्रतिज्ञ रही हैं। सन् १९१४ में अमेरिका के वैलेज़ले कालेज में शिक्षा समाप्त करके जब ये डॉक्टर सन की प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हुईं तो इनकी अवस्था उन्नीस वर्ष की थी और डाक्टर सन अड़तालीस वर्ष के विधुर थे। ये उनके साहस, धैर्य और वीरता पर इतनी मुग्ध हो गईं कि इन्होंने अपने प्रेम की बाज़ी लगा डाली। सन् १९१६ में जब डाक्टर सन जापान में निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहे थे तो ये भी उनके साथ गईं और उनकी सहायिका, सेक्रेटरी और प्रमुख सलाहकार का कार्य करती रहीं। इसमें सन्देह नहीं कि इनकी अटूट श्रद्धा और प्रेम ने डॉक्टर सन के निराश जीवन को बहुत अधिक प्रोत्साहन और बल दिया।

मैडेम सन के पिता चार्ली सुंग शांघाई के सबसे धनिक और प्रमुख व्यावसायिक बैंकर थे; उन्हीं दिनों अपनी प्रिय पुत्री का विवाह-सम्बन्ध उन्होंने एक सम्पन्न परिवार में तय कर लिया था, किन्तु इन्होंने यह सम्बन्ध किसी प्रकार भी स्वीकार न किया और कुछ दिन बाद ही डॉक्टर सन से विवाह कर लिया, जिससे इनके माता-पिता बहुत दिनों तक इनसे रुष्ट रहे।

१२ मार्च, सन् १९२५ में कैन्सर रोग से डॉक्टर सन की पेकिंग में मृत्यु हो गई। सात-आठ वर्षों के वैवाहिक-जीवन के पश्चात् ही इन्हें वैधव्य की विभीषिका में उतरना पड़ा। क्रन्दन करते हुए अंतर का हाहाकार, जीवन-अस्तित्व को अवसान के तिमिर में विलुप्त कर डालने की भीषण कलप, तारुण्य के कुचले हुए अरमानों, अतृप्त तृष्णा और अपूरित लालसाओं को लिए हुए भी, जो प्रतिक्षण इनके जीवन-

पथ को अधिकाधिक अन्धकारमय बना रहे थे, ये साहस से आगे बढ़ती रहीं और इन्होंने कभी हिम्मत न हारी। यों इन्होंने प्रेम की बलि-वेदी पर सर्वस्व न्यौछावर कर दिया था, तथापि इन्होंने अपना सब कुछ खोकर भी अपने आपको धन्य समझा और वीर पति के नाम पर अपने दुर्भाग्य को सौभाग्य समझ प्रेम में आनन्दाश्रु बहाए।

इच्छा-शक्ति का जब अंतर्मन की दृढ़ता से संयोग हो जाता है तो समस्त पार्थिव-बंधन, बाह्य-परिस्थितियाँ और मन के विकार नष्ट हो जाते हैं। शारीरिक-सुखों की क्षुद्र लालसाओं को लात मारकर कर्त्तव्य-पालन की बलवती आकांक्षा इनके परिश्रांत चरणों को अभिनव बल प्रदान करती रही और प्रिय की मधुर स्मृति इनके अन्तर्व्योम में ज्योत्स्ना और आलोक की रश्मियाँ बिखेरती रही। अत्यन्त कारुणिक स्थिति में होने पर भी ये गम्भीरता और संतोषपूर्वक जीवन बिताती रहीं और यौवन के खौलते खून को अपने भाव-शैथिल्य एवं उपरामता में बन्दी बना इन्होंने अपने को संसार से विमुख कर लिया।

सबसे बड़ी समस्या जो उस समय इनके सम्मुख आकर उपस्थित हुई—वह यह थी कि इन्हें अपने पति की अनुयायी दो पार्टियों—कम्युनिस्ट और जेनरल च्याँग-काई-शेक के समर्थकों में से किसी एक को चुनना था। दोनों ही अपने वीर नेता के सच्चे अनुयायी होने का दम भरते थे। जनरल च्याँग-काई-शेक सुअवसर पाकर इनसे मिले और अत्यन्त सम्मान और श्रद्धा से इनका स्वागत किया तथा सारे संसार के समक्ष यह घोषणा कर दी कि डॉक्टर सन की विधवा पत्नी उनकी सबसे बड़ी समर्थक हैं।

चीन में उन दिनों राजनैतिक घटना-चक्र बड़ी तेज़ी से घूम रहा था। सन् १९२७ के तूफ़ानी दिनों में जब गृहयुद्ध की आग भड़क रही थी और कम्युनिस्टों ने जनरल च्याँग के प्रमुख स्थान नानचाँग पर अधिकार जमा लिया था तो उन्होंने यह घोषित किया कि वे मैडेम सन के नेतृत्व में क्रान्तिकारी सरकार कायम कर रहे हैं। उस समय ये शांघाई में थीं। इन्होंने कम्युनिस्टों का पक्ष लेते हुए चीनी जनता के नाम एक मार्मिक अपील निकाली कि वे सचाई, ईमानदारी और बिना

वाद-विवाद में पड़े राष्ट्र-पिता डॉक्टर सन के सिद्धान्तों का पालन करें, जिनकी अन्तिम इच्छा कम्युनिस्टों का साथ देने और रूस से सम्बन्ध स्थापित करने की थी। तत्पश्चात् वहाँ के अशान्त वातावरण से दूर रहने के उद्देश्य से छिपकर रातोंरात एक रूसी समुद्री जहाज़ की सहायता से ये मास्को चली आईं और कई वर्षों तक स्वेच्छा से एकाकी और निर्वासित जीवन व्यतीत करती रहीं।

किन्तु वहाँ ये प्रायः उदास रहती थीं। स्नेहहीन, रसहीन, सुखहीन और सर्वस्वहीन होकर इन्हें अपना एकाकीपन और शून्यता बहुत ही अखरती थी। कभी व्यथाकुल विषादमयी भावनाएँ प्रबल हो उठती थीं और कभी हृदय-कोष में नैराश्य और गम्भीर वेदना का अंधकार प्रगाढ़ हो जाता था, किन्तु विस्मरण के गर्त्त और नीरव, जनशून्य, अजनबी स्थान में रहकर भी इनके हृदय में प्रेम का दीपक सदैव टिमटिमाता ही रहा, जिसके कारण ये कभी हताश न हुईं।

इस बीच चीन में घटनाओं का आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन हुआ। कम्युनिस्टों के नेतृत्व में विद्रोही दल उठ खड़ा हुआ और मैडेम सन उनका पथ-प्रदर्शन करने के लिए चीन आ गईं, लेकिन अगस्त, सन् १६३५ में जब जापान के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा की गई तो इनका नाम जेनरल च्याँग-काई-शेक के तीन हज़ार समर्थकों की लिस्ट में सब से ऊपर छपा हुआ देखा गया, जिससे कम्युनिस्टों में तहलका सा मच गया। ये पुनः अशान्ति से बचने के लिए न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गईं।

द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ और कई वर्षों तक इनका कुछ भी पता न लगा, किन्तु इस अज्ञात स्थिति में रहने पर भी इनकी क्रान्तिकारी विचारधारा और स्वातन्त्र्य-प्रेम कम न हुआ। ये अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहीं, क्योंकि इनका दृढ़ विश्वास था कि यदि डॉक्टर सन जीवित रहते तो वे कम्युनिज्म का ही पक्ष लेते और चीन को सोवियत-राष्ट्र से एक कर देते।

आज साम्यवादी चीन का नेतृत्व करने के लिए ये पुनः कार्य-क्षेत्र में उतर पड़ी हैं। जनरल च्याँग के त्यागपत्र देते ही इन्हें

सरकारी कार्यों में हाथ बँटाने के लिए आमन्त्रित किया गया था। इन्होंने घोषित किया, "चीनी-साम्यवादी-आंदोलन के प्रधान नेता माओ-त्से-तुंग फौलादी धातु के बने हैं और देहाती-मिट्टी में पनपे हैं। चीनी जनता आज सबसे ऊँची और चमकीली चोटी पर चढ़ने के लिए अग्रसर हो रही है।" समता और एकरसता में विश्वास करने वालों को मैडेम सन सत्य और सत्सिद्धान्तों का पालन करना सिखा रही हैं और भौतिकवाद के समर्थकों के समक्ष आत्म-शक्ति और चरित्र-बल का आदर्श उपस्थित कर रही हैं। ये वर्त्तमान क्रान्तिकारी गवर्नमेण्ट की वाइस-चेयरमैन हैं, जिस उत्तरदायित्व को ये सुन्दर ढङ्ग से निभा रही हैं।

चीन में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि सुंग कन्याओं में से एक वहन धन-वैभव को प्यार करती है; दूसरी सम्मान, शक्ति और ख्याति को तथा तीसरी चीन, चीन-वासियों और स्वतन्त्रता के लिए मर मिटनेवाली है। इसमें सन्देह नहीं कि धन-वैभव को प्यार करने वाली सुंग-कन्या से तात्पर्य मैडेम सन की सबसे बड़ी वहन एलिंग से है, जो आजकल अमेरिका में करोड़पति, धन-सम्पन्न बैंकर एच० एच० कुंग (कुओमिटाँग के भूतपूर्व अर्थ-मन्त्री) की पत्नी हैं और खूब आनन्द-ऐश्वर्य में जीवन विता रही हैं। सम्मान, शक्ति और ख्याति की इच्छुक इनकी सबसे छोटी वहन मेलिंग हैं जो जेनरल च्याँग-काई-शेक की पत्नी और विश्व विश्रुत महिला हैं तथा चीन और वहाँ के निवासियों को प्यार करने वाली ये स्वयं हैं, जिन्होंने अपने आदर्शों और सिद्धान्तों के लिए अपना समस्त सुख और जीवन अर्पण कर दिया है।

मैडेम सन-यात-सेन का पूर्ण विश्वास है कि सांस्कृतिक समन्वय और अमीर-ग़रीब का भेदभाव मिटाकर ही विश्व-शांति का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है और इसी में समस्त मानवता का हित निहित है। अपने उच्च, शालीन और व्यापक दृष्टिकोणों के कारण इनके जीवन में सम्पूर्ण मानव-जाति के विकसित रूप का साकार दर्शन होता है, जो विश्व की नारी-जाति के इतिहास में एक अश्रुत- और अभूतपूर्व घटना है।

केथरीन ब्रेश्कोवस्की

जन्म तिथि : सन् १८४४

जन्म स्थान : शनींगौव (रूस)

मृत्यु तिथि : सन् १६३४

मृत्यु स्थान : प्रेग (रूस)

केथरीन ब्रेश्कोवस्की

सन् १६०४ में केथरीन ब्रेश्कोवस्की अमरीका में भ्रमण करने के अभिप्राय से जब बोस्टन में उतरीं तो अकस्मात् उनके मुँह से निकल पड़ा, "आज मैंने दिनभर कुछ नहीं खाया।" पास खड़े हुए रिपोर्टर ने आश्चर्य से मुँह फाड़ दिया, किन्तु उन्होंने तत्काल हँसकर समाधान किया, "ओह! एक दिन—एक दिन कुछ नहीं। जिसने सारा जीवन भूख-प्यास, निर्वासन और कड़े शीत में निकाल दिया हो उसे यदि एक दिन भोजन न मिले तो क्या पर्वाह है?"

कात्या बचपन से ही उदार, चंचल और तेज स्वभाव की थी। अपनी तीन वर्ष की अवस्था में एक दिन उसने अपनी माँ को क्रोध में छड़ी से मार दिया था और फिर दिनभर चुपचाप पश्चात्ताप के आँसू

बहाती रही थी। कभी वह अपना नया कोट अथवा पहनने के वस्त्र किसी भिखारी को दे आती थी और घर में घुसते ही जब उसकी माँ उसे डाँटती तो वह कहती, "माँ! नाराज़ क्यों होती हो? तुमने ही तो हमें बाइबिल में दिखाया था कि यदि दो कोट हों तो एक जरूरतमन्द को दे देना चाहिए।"

ग़रीबों की सहायता करना, निर्बलों को बल देना, त्रस्त मानवता के लिए मर मिटना यही कात्या के जीवन का मूलमंत्र था, जिसे उसने आठ वर्ष की उम्र से ही अपने अंतर में उतार लिया था। वह नित्य ही एकान्त में बैठकर अपनी बाल-बुद्धि से ऐसे-ऐसे स्वप्न-चित्र सँजोती कि उसकी जागृत चेतना व्यक्तिगत सुखों को दूसरों की आपत्तियों में साकार करने की चेष्टा में सतत संलग्न रहती थी। अपने माता-पिता से वह प्रायः कहा करती थी, "मैं कालीफोर्निया जाऊँगी, वहाँ से बहुत सा सोने का ढेर खोद कर रूस में लाऊँगी और फिर इतनी बड़ी ज़मीन खरीदूँगी, जो आकाश से भी बड़ी होगी और जिसमें सभी मुसीबत के मारे, अभागे व्यक्ति सुख-चैन से रह सकेंगे।" उसके पिता उसे चिढ़ाने की गरज़ से हँसकर कहते, "तू पगली है, क्या धन भी ऐसे व्यर्थ के कामों में खर्च किया जाता है?" और वह पूरे विश्वास से सिर हिलाकर कहती, "निःसन्देह, रुपया खर्च करने का सबसे उत्तम तरीक़ा है कि उसे ग़रीबों की सेवा में लगाया जाय।"

विश्व के अगणित पीड़ितों के कल्याण-साधन के लिए कात्या का दिल सदैव मचलता रहता था। एक सम्पन्न परिवार में जन्म लेकर भी उनमें विद्रोही भावनाएँ और पूँजीवाद पर टिकी हुई सामाजिक-व्यवस्था को उलट-पुलट कर देने की बलवती आकांक्षा विद्यमान थी। जब पड़ोस में धनिक परिवार की लड़कियाँ आमोद-प्रमोद, नृत्य-संगीतादि में भाग लेने के लिए सम्मिलित होतीं तो कात्या जान-बूझ कर उनके साथ न जातीं और घर पर ही वाल्तेयर, रूसो आदि महान् कलाकारों की कृतियाँ अथवा फ्रैंच और जर्मन रेवोल्यूशन की घटनाएँ पढ़कर प्रेरणा प्राप्त करतीं। ज्यों-ज्यों वे बड़ी होती गईं उनके काली-फोर्निया जाने के कल्पित स्वप्न तो मिट गए; उसके स्थान पर वे [illegible] जन्म भूमि रूस की हित-चिन्तना में तत्पर हुईं। उन्होंने कृषक

बालकों के लिए एक स्कूल खोल दिया, किन्तु उन्हें पढ़ाना आसान न था। पूँजीवाद के विकास की चरम सीमा ने उनकी चेतना और बुद्धि को इतना कुंठित कर दिया था कि वे सोच और समझ न सकते थे। कात्या ने लिखा है—

"मैंने उन कृषक बालकों को बेवकूफ, बुद्धि-हीन और अज्ञान के गर्त में पड़ा पाया। वे केवल अपनी मिट्टी की झोंपड़ियों और जोतने वाली ज़मीन की ही बात सोचा करते हैं। गवर्नमेण्ट के सम्बन्ध में वे केवल इतना ही बता सकते हैं कि शान्ति के दिनों में उन्हें मुआवज़ा देना होता है और लड़ाई के दिनों में अपनी जिन्दगियाँ। निर्जीव श्रम में अनवरत उलझे रहने के कारण उनमें अनेक विकृतियाँ पैदा हो गई हैं, जिनका मूल कारण असन्तुलित व्यक्तिवाद, अभाव, निर्धनता और स्वार्थपूर्ण एवं जीवन की सहजानुभूति से वंचित बुद्धिवाद है। एक साधारण शिक्षिका होने के नाते मैं उन्हें क्या-क्या समझाऊँ? मैं ऐसा अनुभव कर रही हूँ कि राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में पर्याप्त परिवर्त्तन करने की आवश्यकता है।"

किन्तु कैसे परिवर्त्तन? इसका निर्णय अभी वे न कर पाई थीं। वे सुधार करना चाहती थीं, ध्वंस करना नहीं। उन्हीं दिनों उनकी भेंट एक उदार और विचारशील नवयुवक से हुई और उन्होंने उसे पति रूप में वरण कर लिया। विवाह के दिन कात्या की माँ ने आँखों में आँसू भर कर कहा था, "शाबाश! तूने कितनी बुद्धिमानी का कार्य किया है। आज तू अपनी स्वरूपानुरूप स्थिति में आगई है मानों फुदकता हुआ नाला शान्त जल में परिणत हो गया है।"

वैवाहिक-जीवन में चंद महीने सम्मिलन-सुख और आनन्द की चाँदनी बरसती रही, लेकिन शीघ्र ही वह सपना भी मानों टूट गया। अकस्मात् केथरीन की एक क्रान्तिकारी, साहसी प्रिंस से भेंट हुई, जिसने समस्त धन-वैभव और राज्याधिकार को ठुकरा कर दुखियों की सेवा का व्रत ले लिया था। वे लिखती हैं, "कई घण्टे तक उससे सामयिक-समस्याओं पर वाद-विवाद होता रहा और उसके शब्दों ने मेरे हृदय में आग सी धधका दी।"

इस नवयुवक प्रिंस का नाम पीटर क्रोपोटकिन था। एक ओर पूँजीपतियों के भोग-विभव और दूसरी ओर संतप्त मानव एवं भूख से विलखते बालकों की दुर्दशा देखकर उसके अंतर में भीषण तूफ़ान और महा विप्लव सा मच रहा था; अतएव उसके जोशीले शब्दों ने कैथरीन पर बिजली का सा असर किया। उन्होंने तत्क्षण दृढ़ निश्चय कर लिया कि त्रस्त मानवता की रक्षा के लिए उनके साथ रहना और उनके अंतरतम जीवन से परिचित होना अनिवार्य है। एक दिन सुअवसर पाकर उन्होंने पति से अपना निश्चय कह सुनाया, "क्या आप भी मेरा साथ देने को तैयार हैं ?"

केथरीन के पति आदर्शवादी होते हुए भी इतना त्याग करने को उद्यत न थे। उन्होंने स्पष्ट कह दिया, "मैं इस हद तक नहीं जाना चाहता।"

"ठीक है, तब मैं अकेली ही जाऊँगी।" उन्होंने साभिमान उत्तर दिया।

यद्यपि उनकी शारीरिक-स्थिति ठीक न थी और वे शीघ्र ही माँ बनने की प्रतीक्षा में थीं; तथापि उन्होंने इन बातों की पर्वाह न की और अकेले ही दुर्गम पथ का अनुसरण किया। "यदि आवश्यकता आ पड़ेगी तो मैं मरने तक के लिए तैयार हूँ।" उन्होंने चलते हुए घोषित किया था।

कुछ दिन वे अपनी विधवा बहिन ओलगा के घर कीव में ठहरीं, जहाँ उन्होंने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। तत्पश्चात् अपने कलेजे के टुकड़े को भाई-भाभी को सौंपकर वे अपने गन्तव्य की ओर चल पड़ीं। "मुझे लगा जैसे मेरे हृदय के सैंकड़ों-हज़ारों टुकड़े हो जाएँगे, किन्तु फिर सोचा क्रान्तिकारी होने के साथ-साथ माँ बनना नितान्त असम्भव है। मैं अपना निश्चय कर चुकी थी। और तत्काल मन ने समाधान किया कि इस कँटीली, भयावह, दुष्कर राह का अनुसरण करने वाली मैं ही तो सिर्फ़ अकेली नहीं हूँ, वरन् मेरी सी स्थिति की अनेकों स्त्रियाँ हैं, जिन्होंने मानव-हित और रूस की स्वतन्त्रता के लिए

माँ का दायित्व, पति के प्रेम और गार्हस्थिक-सुखों को लात मार दी है।"

सन् १८७४ की भीषण गर्मी में केथरीन अपने दो सहयोगियों माशा कालेंकिना और याकोव स्तेपानोविच के साथ छद्म वेष में निकल पड़ीं। उन्होंने झूठे पासपोर्ट बनवा लिए थे, जिसमें केथरीन ने अपना विवरण देते हुए अपने आप को ऑरलोव ग्राम की चालीस वर्षीया किसानी महिला लिखाया था, जबकि वे केवल तीस वर्ष की ही थीं। दस वर्ष की उम्र की अभिवृद्धि के लिए उन्होंने क्या कुछ नहीं किया। अपने सिर के सुन्दर मुलायम बालों को सुखाकर झंखाड़ बना लिया; गालों पर झुर्रियाँ, शरीर को मलिन और स्वभाव की कोमलता को उद्दण्डता में परिणत कर लिया। पाँवों में भारी छाल के जूते, कैनवास का ढीला, बेढंगा ब्लाउज़, मोटे और खुरदरे कपड़े का गाऊन तथा एक काली सी मोटी जाकेट, जिसपर लाल पेटी जकड़ी रहती थी; कभी-कभी इस वेष को देखकर लोग हँसते और कटु व्यंग करते थे, "वाह! क्या बेबाक़ औरत है, लेकिन तुमने ऐसे सुन्दर और मुलायम हाथ कहाँ पाए?" एक बार एक मज़दूर ने हँसकर पूछा।

उन्होंने तत्काल उत्तर दिया, "मैं एक धनिक ज़मींदार के यहाँ नौकरानी थी, जहाँ मुझे बहुत हल्का काम करना पड़ता था।"

मज़दूर ने आँख झपझपाते हुए हँसकर कहा, "मैं समझता हूँ।"

केथरीन अपने साथियों के साथ शरकास नगर में उतरीं और वहाँ से गाँव-गाँव, एक शहर से दूसरे शहर में पैदल यात्रा करती रहीं। केथरीन को इतने भयंकर कष्ट सहने का अभ्यास न था। ऊँची-नीची, दलदली ज़मीन पर चलते-चलते उनके पाँव सुन्न हो जाते। कभी उभरे पत्थरों और ढेलों से टकराकर रक्त बहने लगता। गाँवों में किसानों और मज़दूर-पेशा वाले लोगों का भोजन देख कर उबकाई सी आती और पीठ पर लटकी हुई ज़रूरी सामान की गठरी मनों बोझ सी मालूम पड़ती। प्रायः सोने और ठहरने की कोठरी में मकड़ी के जाले, कीड़े-झींगुर और भिन-भिनाते हुए मच्छर तथा चूहों के मोटे-मोटे बिल मिलते थे, जिसमें एक घण्टा भी सुखपूर्वक सोना-बैठना

कठिन था। एक बार जब केथरीन ने अत्यंत संकुचित मन से डरते हुए यह कहा कि मैं इस स्थान को धोना चाहती हूँ तो वहाँ की मालकिन ने सलाह दी, "थोड़ा गोबर उठा लाओ और चूने के पानी में मिलाकर लीप डालो। यहाँ सफ़ाई हो जाएगी।"

जैसी वे मनहूस, अँधेरी कोठरियाँ थीं, वैसे ही उनमें रहने वालों के तिमिराच्छन्न मस्तिष्क भी थे। पूँजीवादी विकृतियों ने उन्हें सांस्कृतिक चेतना-शून्य और जीवन-हीन, अमानवीय व्यापारों ने उनके सम्पूर्ण जीवन-रस को सोखकर उन्हें मानवता की महान् उपलब्धियों से वंचित कर दिया था। उन्हें कुछ बताना या सुझाना कठिन था। वे कहते थे, "हमारी तकलीफ़ों के लिए गवर्नमेण्ट या ज़ार दोषी नहीं, बल्कि धनिक लोग ज़िम्मेदार हैं।"

केथरीन ने उनमें चेतना जगाने का प्रयास किया। कृषकों, मज़दूरों और चिन्ताग्रस्त मानवों के एक बहुत बड़े समूह में वे भाषण देतीं, शिक्षाप्रद, रोचक कहानियाँ सुनातीं, उनके द्वारा सहे हुए क्लेशों, दुःखों और अपमानों की तिलमिला देने वाली सच्ची घटनाएँ बतातीं, जिनका उनके हृदय पर बिजली की तरह असर होता और आँखों में आँसू छलछला आते, किन्तु अभी उनकी समझ का इतना विकास न हुआ था जो इस विभीषिका से बचने का उपाय सोच पाते।

केथरीन के विचारों ने रूस में राज्य-क्रान्ति के बीज बिखेर दिए। जहाँ-जहाँ वे जाती थीं, सरकारी भेदिए भेड़ियों की तरह पीछे पड़े रहते थे। कुछ दिन बाद ही मौका पाकर वे पकड़ ली गईं और काल-कोठरी में डाल दी गईं। अपनी डायरी में वे लिखती हैं, "जैसे ही मैं नीचे उतरी, शराब के नशे में झूमते हुए दो जाहिल सिपाही वहाँ गश्त लगाते हुए मिले। उन्होंने मुझे भीतर धकेल दिया। लोहे का भारी फाटक बन्द कर दिया गया और मैं उस नारकीय अन्धकार में औंधे मुँह जा पड़ी। आँखें अन्धी-सी हो रही थीं, मस्तिष्क बोझिल था और चेतना शिथिल। अन्दाज़ से सरक कर मैं आगे बढ़ी, लेकिन कोठरी की फर्श में नमी और फिसलन थी। हाथ-पाँव उखड़-से रहे थे। बिल्कुल थककर मैं एक ओर पड़ी घास और मैले

कपड़ों के ढेर पर बैठ गई। दो क्षण भी बीतने न पाए थे कि सुइयाँ-सी चुभने लगीं और मैं उठकर खड़ी हो गई। घास में शायद जहरीले कीड़े या खटमल थे, जो मुझे काट रहे थे। किसी अज्ञात प्राणान्तक भय की कल्पना करती हुई मैं सारी रात खड़ी रही। बस, यहीं से मेरी साइबेरिया-यात्रा का आरम्भ होता है।"

दो वर्ष तक केथरीन को एक जेल से दूसरी जेल में घुमाया गया। फिर साइबेरिया भेजना निश्चित हुआ। "पाँच वर्षों तक मुझे खानों में कड़ा श्रम करना पड़ा, जो दण्ड प्रायः खूनियों को ही दिया जाता है। वहाँ की अवधि समाप्त होते ही मुझे साइबेरिया की ओर प्रस्थान करना था।"

एक बन्द गाड़ी में केथरीन को बिठा दिया गया। गाड़ी ऊँची-नीची सड़क पर झटकों के साथ आगे बढ़ती थी। निद्रा की चेतना जड़ हो गई थी, लगता था जैसे मस्तिष्क की शिराएँ खिंची हुई हों। मार्ग में पड़ने वाली जेलों में केथरीन को कभी-कभी अन्य कैदियों के साथ सोने की छूट दी जाती थी, किन्तु ऐसे नारकीय स्थान में आराम से अधिक देर सोना सम्भव न था। मच्छर और खटमलों से पूरित बिछौने, दुर्गन्धमय कोठरियाँ और दूसरे कैदियों द्वारा मारे गए खटमलों के रक्त से पुती दीवारों को देखकर मिचली-सी आने लगती।

कई दिनों की कष्टदायक लम्बी यात्रा को तय कर लेने के बाद पहले केथरीन कारा की खानों में पहुँचाई गई। वहाँ से उन्हें साइबेरिया के एक बर्फीले नगर बारगुज़िन जाना था। एक हज़ार मील लम्बे, दुरूह पथ को पैदल ही पार करना पड़ा। उन्होंने लिखा है, "सभी कैदी शीत से ठिठुर रहे थे। कोई भी किसी से बातें न करता था। बर्फ से ढके विस्तृत मैदान की नीरवता हवा की सनसनाहट से ही भंग होती थी। बारगुज़िन में निर्वासित कैदियों के मृत शरीर, जो वहाँ की सर्दी बर्दाश्त न करने के कारण असमय में ही काल-कवलित हो गए थे, इधर-उधर बर्फ पर पड़े दिखाई दे रहे थे।"

बारगुज़िन में आकर केथरीन ने कैदियों के बालकों को शिक्षित करने में अपने समय का सदुपयोग करना चाहा, किन्तु उन्हें ऐसी

आज्ञा नहीं दी गई। जीवन-संघर्ष और क्रूर नियति-चक्र के तूफ़ानी झोंकों से क्लांत इस विद्रोही नारी का मन एकान्त में निरर्थक बैठे-बैठे आज़ादी के स्वप्नों में भूलता रहता और वे वहाँ से उन्मुक्त वातावरण में भाग जाने की बातें सोचा करतीं। एक रात को वे तीन युवक साथियों के साथ साइबेरिया के एक बूढ़े किसान की देख-रेख में भाग निकलीं, किन्तु थोड़ी दूर ही जाने पाई थीं कि फिर पकड़ ली गईं। उन्हें पुनः कई वर्षों के निर्वासन का दण्ड मिला।

सन् १८६६ में साइबेरिया से छूट कर वे रूस आईं और अपने सभी सम्बन्धियों और मित्रों से मिलीं। वे फिर क्रान्तिकारी दल में शरीक हो गईं और उन्होंने छद्म-वेष में अपना काम शुरू कर दिया। पुलिस उन्हें निरन्तर बन्दी बनाने की घात में रहने लगी। एक ऐसे ही मौके पर जब वे एक सम्बन्धी के यहाँ मिलने गई थीं तो पुलिस ने उस मकान को घेर लिया। सौभाग्य से उस दिन भोजन बनाने वाला कहीं गया था। वे रसोइये के कपड़े पहने हुए खाना बनाने में व्यस्त रहीं और पुलिस उनके सामने ही सारे मकान का गश्त लगा कर निराश हो लौट गई।

उन्हीं दिनों वे भ्रमण करने के उद्देश्य से अमेरिका भी गई थीं। जैसे ही उनके पहुंचने का समाचार वहाँ मिला, सारे में तहलका-सा मच गया। हज़ारों-लाखों मनुष्यों की भीड़ इस साहसी, क्रान्तिकारी नारी को देखने के लिये उमड़ पड़ी। उनकी वाणी जैसे आग उगलती थी। उनके मित्रों ने उनसे कुछ दिन अमेरिका में ही रहने का अनुरोध किया, किन्तु वे न मानीं, "मैं अधिक दिनों तक यहाँ नहीं ठहर सकती। रूस मुझे बुला रहा है। जब रूस स्वतन्त्र हो जाएगा तो पुनः आऊंगी।"

रूस आकर वे फिर पकड़ ली गईं और अब की बार साइबेरिया में उन्हें आजीवन कारावास का दण्ड मिला। उन्हें जान-बूझ कर अत्यधिक बर्फ़ीले स्थानों में रखा जाता था, जिससे वे जीवित न रह सकें, किन्तु अधिकाधिक कष्टों और यातनाओं को झेल कर उनका व्यक्तित्व तो मानों और भी वज्र-सा होता जा रहा था। संकट-

ग्रस्त और मुसीबत के मारे व्यक्तियों के लिए उनके दिल में प्यार, ममता और ज़िन्दादिली का भाव विद्यमान था, जिससे उनका दिल सदैव मज़बूत बना रहता था। साइबेरिया का उनका एक साथी उनके इस द्वितीय निर्वासन-काल का विवरण देता हुआ लिखता है, "ओजस्वी मुखमण्डल, जिस पर एक भी झुर्री नहीं थी, स्वस्थ चेष्टा, चमकती आँखें और अधपके, घुँघराले बाल, जिससे किंचित् भी यह ज्ञात नहीं होता था कि केथरीन सत्तर वर्ष की वृद्धा हो चुकी हैं।"

सरकारी अफसर उनके धैर्य और साहस पर दंग हो जाते थे। ऐसा ज्ञात होता था जैसे पार्थिव शक्ति उन्हें मार सकने में समर्थ नहीं है। उनका कुछ ऐसा निराला व्यक्तित्व था जो अनेकानेक कष्टों को सह कर भी विचलित नहीं हुआ। पहले दो जासूस उन पर तैनात किए गए, फिर चार, और अन्त में छः।

किन्तु इतने सख्त निरीक्षण और कड़े प्रतिबन्ध में भी उन्होंने छिप कर भागने की तैयारी कर ली। कुछ घण्टों में ही उन्होंने हज़ारों मील का रास्ता तय कर डाला, लेकिन जैसे ही वे सीमा पर पहुँचीं उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इस बार साइबेरिया के उत्तरी वर्फ़िस्तान में उन्हें भेज दिया गया। यहाँ जीने की आशा व्यर्थ थी। केथरीन को अपनी चिन्ता न थी, उन्हें दुःख था कि अपने देश की आज़ादी देखे बिना ही वे संसार से विदा हो जाएँगी। "सड़क लम्बी है और मार्ग अन्धकारमय।" वे प्रायः कहा करतीं।

किन्तु अकस्मात् अन्धकार फोड़ कर प्रकाश फूट पड़ा। केथरीन ब्रेश्कोवस्की और वहाँ के सभी कैदियों को एक दिन समाचार मिला, 'रूस स्वतन्त्र हो गया'।

उनका आज़ादी का स्वप्न पूरा हो गया था। उनके हर्ष की सीमा न थी, यद्यपि अभी आवश्यक सुधार न हुए थे। तत्कालीन बोल्शेविक सरकार से मतभेद होने के कारण वे उनके हाथों बन्दी बना ली गईं और ज़ेकोस्लोवाकिया में निर्वासित कर दी गईं। वहाँ से छूट कर वे प्रेग चली गईं और छियत्तर वर्ष की वृद्धावस्था में भी इस कर्मठ महिला ने ग़रीब बालकों के लिये स्कूल खोल दिया। अपने

ज़ीवन के अवशिष्ट चौदह वर्षों तक वे अविकसित, कोमल मस्तिष्कों में नव-चेतना भरने का प्रयत्न करती रहीं। वे कहतीं—

"एक महान् युग दृष्टि-पथ में है। मैं अपने अन्तश्चक्षुओं से उसे देख रही हूँ—एक ऐसा युग जिसमें समस्त देश, राष्ट्र और जातियाँ भेद-भाव मिटा कर बिल्कुल एक हो जाएँगी।"

ज़ोया कोस्मोदेमिन्स्कया

जन्म तिथि : १३ दिसम्बर, १९२३
जन्म स्थान : ओसीन्नावी गायी ग्राम, ताम्बोव प्रांत (रूस)
मृत्यु तिथि : ५ दिसम्बर, १९४१
मृत्यु स्थान : पेट्रिटशेवो ग्राम (रूस)
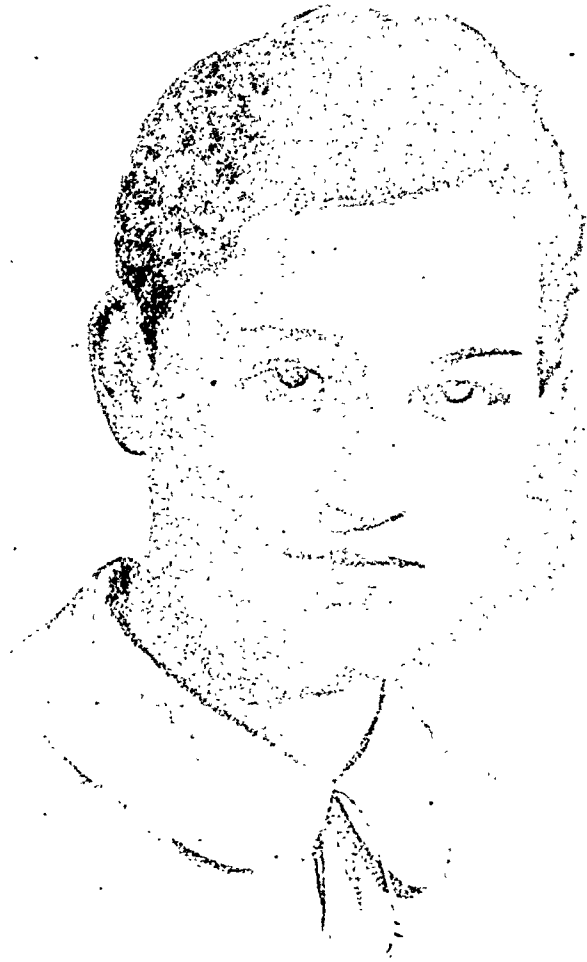
ज़ोया

रूसी इतिहास की बीसवीं शताब्दी के चित्रपट पर ज़ोया एक जीवित केन्द्रबिन्दु है, जिसने अपने देश की अँधेरी और भयावह घड़ी में मर्दानगी की चुनौती देकर शत्रु के नृशंस प्रहार अपने सुकुमार शरीर पर सहे थे और आज़ादी के लिए हँसते-हँसते प्राणों का विसर्जन कर दिया था। तभी से ज़ोया के जीवन-मृत्यु की अमर गाथा विश्व भर के लिए नवीन चेतना और शक्ति का उद्गम बन गई है।

विभिन्न रूसी पत्रों में सैंकड़ों लेख और निबन्ध इस अठारह-वर्षीया किशोरी कन्या की बलिदान-कथा पर निकलते रहते हैं। पब्लिक-म्यूज़ियम के लिए चित्रकार उसके चित्र बना रहे हैं। रूस का एक सुप्रसिद्ध नाटककार कान्स्टेण्टिन सिमोनोव उस पर एक नाटक लिख रहा है। कोवैलेवस्की ने एक लम्बी कविता लिखी है। मूर्तिकार

ज़ेलिंस्की और लेवेदेवा उसकी पाषाण-मूर्त्तियाँ तैयार कर रहे हैं और रूस के हॉलीवुड का एक प्रख्यात डायरेक्टर ज़ोया की कल्पित फिल्म बनाने में व्यस्त है ।

ज़ोया की सभी पुस्तकें, स्कूली-जीवन में लिखी कविताएँ, पत्र, डायरी, लेख म्यूज़ियम में सुरक्षित रखने के लिए उसके पैदायशी ग्राम से मँगा लिए गए हैं। नगर, सड़कें, स्कूल, कारखाने, म्यूज़ियम उसके नाम पर खोले जा रहे हैं। रूसी लड़कियाँ ज़ोया का दृष्टान्त देकर जीवन-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त करती हैं ।

१३ सितम्बर, सन् १६२३ में वह ओसीन्नावी गायी ग्राम में ताम्बोव प्रांत में एक कृषक परिवार के यहाँ पैदा हुई थी। जन्म के समय वह इतनी हल्की और क्षीणकाय थी कि ऐसा ज्ञात होता था कि वह बचेगी नहीं, किन्तु वह इतनी तेज़ी से स्वस्थ होती गई कि एक वर्ष के भीतर न केवल उसके सारे दाँत भर गए, वरन् वह बोलने और चलने भी लगी। श्वेत रंग, घुँघराले बाल, पतले लाल ओंठ, चमकती नीली आँखें—एक वर्ष की नन्ही ज़ोया पुष्प-कली की भाँति खिली रहती थी।

जब वह छः वर्ष की हुई तो उसका समस्त परिवार साइबेरिया स्थानान्तरित होगया। जीवन में प्रथम बार ज़ोया ट्रेन में बैठी । सात दिन की लम्बी थका देने वाली यात्रा में भी उसका मन, प्राण आह्लाद से थिरकता रहा। शहर में जाकर तो उसे और भी कौतूहल हुआ। कानस्क में प्रकृति का अनंत वैभव उसके भीतर अव्यक्त सौन्दर्य की सृष्टि करता हुआ उसकी चेतना को तन्मय बना देता था। वह घण्टों एकांत में बैठी जंगल की शोभा और प्राचीन वृक्षों की हरियाली देखा करती। कान नदी के प्रवाह में उसकी निरीह कल्पना और बाल-औत्सुक्य परित्राण पाता था। बाल्यकाल में प्रकृति के मनोरम दृश्यों की सौन्दर्यानुभूति ने ज़ोया में अनेकों प्रेरणाएँ भरीं। उसे लगता था जैसे विश्व के कण-कण में मानवीय-भावनाओं से ओत-प्रोत जीवन का अभिनव संदेश छिपा है।

ज़ोया प्रायः जंगल में अकेली ही घूमती थी। रीछ, भेड़िए, चीते और जंगली बिल्लियों का बाहुल्य होते हुए भी उसे भय नहीं लगता

था। वह चैरी और रसभरी जंगली फलों को खाने और एकत्र करने की बड़ी शौकीन थी। एक बार उसके माता-पिता कहीं अन्यत्र गए थे। लौटकर आए तो देखा, ज़ोया घर पर नहीं है। माँ अपनी पुत्री को ढूँढने के लिए निकल पड़ी और न मिलने पर रोने बैठ गई। फिर देखा कि वह अपने पिता का हाथ पकड़े आ रही है। माता-पिता की अनुपस्थिति में रसभरी का आकर्षण ज़ोया को जंगल में खींच ले गया था और पुनः वहाँ से घर लौटते हुए वह मार्ग भूल गई थी। उस के पिता ढूँढने निकले तो वह अजनबी परिवार में बैठी हँस-हँस कर अपने गाँव की बातें सुना रही थी। किसी बात पर भी उदास अथवा चिंतित होना ज़ोया जानती ही न थी। भय नाम की वस्तु से वह जीवन-पर्यन्त अपरिचित रही।

एक वर्ष बाद वे सब मास्को चले आए और ज़ोया ने नियमित रूप से पढ़ाई आरम्भ कर दी। गणित में विशेष अभिरुचि न होने पर भी वह सदैव परीक्षाओं में प्रथम आती रही। उसे बड़े-बड़े लेखकों, कवियों आदि की पुस्तकें पढ़ने का बड़ा शौक था। अपनी अल्पायु में ही उसने बेलिंस्की, पिसारेव, शर्नीशेवस्की की पुस्तकें, बायरन की कविताएँ, मोलियर के पाँच उपन्यास, डिकिन्स के 'डेविड कॉपरफील्ड' (David Copperfield) और 'ए टेल ऑफ टू सिटीज़' (A Tale of Two Cities) तथा मार्क ट्वेन, लाँगफैलो फ्लॉबर्ट, विक्टर ह्यूगो, सर वाल्टर स्कॉट आदि लेखकों की अधिकांश कृतियाँ पढ़ ली थीं। जर्मनी के वयोवृद्ध कलाकार बीटोफ़ेन की वह अनन्य भक्त थी। लियो टालस्टॉय का 'वार एण्ड पीस' (War and Peace) उसका प्रिय उपन्यास था और एलेक्ज़ेण्डर नेवस्की, माइखेल कुटुज़ोव, दिमित्री दान्स्क्वा की जीवनियाँ और कृतियों को वह कई बार पढ़ चुकी थी तथा गेटे के 'एगमांत' (Agmont) को उसने कंठस्थ कर लिया था। शेक्सपीयर के 'ऑथेलो' (Othello) की समीक्षा करते हुए उसने लिखा था, "इसमें नैतिक मानदण्डों और उच्चादर्शों के लिए मनुष्य का संघर्ष और मानवीय प्रकृति एवं उन्नत भावनाओं की विजय दिखाई गई है।"

अपनी डायरी में एक स्थल पर लिखती हुई ज़ोया अपने निम्न

विचार व्यक्त करती है :—

"अपने आत्म-सम्मान की सदैव रक्षा करो, किन्तु साथ ही यह आवश्यक है कि आप में मिथ्याभिमान और आत्म-श्लाघा का भाव जाग्रत न होने पावे। अपने तक ही सीमित न रहो, एकांगिता भी उचित नहीं है। यह भी मत चिल्लाओ कि तुम्हारी कोई इज्जत नहीं करता। अपने को उत्तरोत्तर उन्नत करने का प्रयत्न करो, ताकि तुम में आत्म-विश्वास दृढ़ होता जाए।"

जब ज़ोया पन्द्रह वर्ष की हुई तो 'सोवियत-युवक-संस्था' में सम्मिलित हो गई और सामाजिक-सेवाएँ आरम्भ कर दीं। अपनी समवयस्क निर्धन बालिकाओं को वह शिक्षा देती थी। इसके अतिरिक्त दस वर्ष की आयु से ही, जब से उसके पिता दिवंगत हुए, वह अपनी विधवा, असहाय माँ की सहायिका और संरक्षिका थी। जब-जब उसकी माँ अपने वैधव्य और दीनता पर आँसू बहाती तो वह बुजुर्ग की भाँति धैर्य बँधाती हुई उससे कहती, "माँ ! रोती क्यों हो ? मैं तो हूँ। बड़ी होकर मैं तुम्हारी सेवा करूँगी, तुम्हारी चिंताओं को अपनी चिन्ता बना लूँगी। तुम कुछ भी सोचकर परेशान न होओ।" और प्रायः जब उसकी माँ फैक्टरी-स्कूल से पढ़ा कर लौटती तो उसे भोजन तैयार, मकान स्वच्छ, आग सुलगती हुई और दूसरे दिन की खाने-पीने की सब वस्तुएँ तैयार मिलती थीं।

२२ जून, सन् १९४१ को अकस्मात् मोलोटोव के रेडियो-भाषण से ज़ोया को यह विदित हुआ कि रूस पर जर्मनी का आक्रमण हो गया है। यों साहसी ज़ोया कभी रोती न थी, पर न जाने क्यों उसके नेत्रों से टपाटप अश्रु गिरने लगे। उसे सब से अधिक दुःख इस बात का था कि लड़कियों को सेना में भर्ती न करके उन्हें क्यों देश-सेवा से वंचित किया जाता है। फिर न जाने क्या सोच कर वह उठ खड़ी हुई और बोली, "माँ! मैं लड़ाई में जाऊँगी।"

उन्हीं दिनों मास्को में बम-वर्षा हो रही थी। ज़ोया फायर-ब्रिगेड में शामिल हो गई। एयर-रेड की ड्यूटी पर वह कमर कस कर सन्नद्ध रहती थी। पहले स्मालेन्स्क का पतन हुआ, फिर कीव का। जर्मन लोग मास्को के निकट आते जा रहे थे। ज़ोया अहर्निश चिंतित

परेशान और गंभीर रहती थी। कभी-कभी एकांत में उसके ओंठ भिच जाते, आँखें चमकने लगतीं, दृढ़-संकल्प का भाव मुख पर उभर आता, मानों उसके भीतर संघर्ष सा हो रहा है। माँ भयभीत रहने लगी कि शायद ज़ोया घर में न टिके। उन्हीं दिनों उसने ज़ोया की डायरी में लिखा हुआ देखा—

"मेरी प्यारी माँ! तुम्हारा जीवन कितना दुःखमय है। मैं जानती हूँ कि पिता की मृत्यु के बाद से मैं तुम्हारे लिए पुत्री से भी अधिक रही हूँ। यदि मुझे कुछ हो गया तो तुम्हारा क्या होगा......।" किन्तु उसने आगे लिखा था, "मुझे जाना ही होगा। मेरा निश्चय बदल नहीं सकता।"

एक दिन सुबह किसी से कुछ कहे बिना ही ज़ोया चली गई। माँ को भय हुआ कि कहीं सेना में तो भर्ती नहीं हो गई। परेशान और भरे दिल से वह अपने पुत्र शूरा के साथ भोजन करने बैठी, किन्तु खाया न गया। खिड़की से झाँक कर गली में देखा, किन्तु कोई दिखाई न पड़ा। संध्या समय बहुत देर तक ज़ोया लौटी। उसकी आँखें खुशी से चमक रही थीं, मुँह लाल था, वाणी में ओज और उत्साह था। माँ से चिपट कर बोली—

"माँ, दो दिन बाद ही मैं लड़ाई में जा रही हूँ। किसी से कुछ भी न बताना। मैं गुरीला फौज में सम्मिलित हो गई हूँ। हाँ, मुझे कुछ न चाहिए; केवल कुछ थैले, जो तुमने और मैंने मिल कर सीए थे, दो सूट, एक तौलिया, साबुन, ब्रुश और पेन्सिल-काग़ज़ ले जाऊँगी!"

माँ चुप थी। उसे साहस न हुआ कि वह ज़ोया का विरोध कर सके। अवरुद्ध कण्ठ से बोली, "तुम क्यों अपने सिर पर इतना बोझ ले रही हो? तुम लड़की हो, लड़का नहीं।"

"माँ! क्या तुम्हें यह कहना शोभा देता है? तुम्हीं ने तो मुझे हमेशा सिखाया था कि प्रत्येक को वीर, साहसी और कर्मनिष्ठ होना चाहिए। जर्मन लोग देश को बरबाद कर रहे हैं और तुम मुझे घर में बैठाना चाहती हो? ऐसा न होगा, कभी न होगा।"

माँ समझती थी कि बात न मानने पर ज़ोया रोने लगेगी। उसे अधिक पूछने का साहस भी न हुआ। लगता था जैसे ज़ोया उससे दूर—बहुत दूर होती जा रही है। इन दो दिनों के भीतर ही उसमें अभूतपूर्व परिवर्त्तन हो गया था और वह पहले से अधिक समझदार, गम्भीर और दायित्त्व को समझने लगी थी।

घर पर ज़ोया की आखिरी रात। माँ को नींद न आई। वह बार-बार उठ बैठती, कभी टहलने लगती, कभी सोचती ज़ोया को जगा कर समझाऊँ, किन्तु सोती हुई ज़ोया की शांत मुख-मुद्रा, गम्भीर चेष्टा, ओठों पर विहँसता संकल्प उसे चुप रहने के लिए बाध्य करता रहा। उसके मन में आशंका सी हो रही थी, "क्या मेरी ज़ोया मुझे फिर मिलेगी? यह उसकी अन्तिम रात तो नहीं?" अत्यन्त प्रातः उठ कर माँ-बेटी ने एक साथ जलपान किया। फिर ज़ोया अपनी माँ से बिदा लेकर अनंत पथ की ओर सदैव के लिए चल दी।

एक विशाल, अँधेरी मिलिटरी बैरक़ में गुरीला फौज का लीडर मेज़ पर बैठा था और ज़ोया उसके सामने खड़ी थी!

"क्या तुम्हें भय नहीं लगता?"

"नहीं, बिल्कुल नहीं।"

"रात्रि के समय जंगल में अकेले घूमने में तुम्हें आपत्ति तो न होगी?"

"नहीं, ऐसा कभी न होगा।"

"यदि जर्मन तुम्हें पकड़ लें और शारीरिक कष्ट दें?"

"मैं सब सह लूँगी। आप कुछ चिन्ता न करें।"

लीडर को पूर्ण सन्तोष हो गया और ज़ोया ने अपना वेष और नाम बदल कर मास्को से प्रस्थान किया।

शीत में जहाँ ज़ोया की गुरीला फौज का पड़ाव था, वहाँ चारों ओर बर्फ़ ही बर्फ़ जमी थी। पीने का जल उपलब्ध न था। सन्ध्या समय ज़ोया जल की खोज में निकली तो उसे एक ढालू गड्ढे में सीढ़ियाँ मिलीं। पता लगाने पर मालूम हुआ कि वह जर्मन लोगों के लिए पृथ्वी के गर्भ में सुरंग खोदी गई है। लड़ाई और खाने-पीने का

सामान भी वहाँ पर्याप्त मात्रा में रक्खा था। ज़ोया बड़े उत्साह से खाना बनाने में जुट गई और उसने कई दिन बाद अपने भूखे साथियों को भरपेट भोजन कराया।

जंगल में गुरीला फौज के विभिन्न कार्यों में व्यस्त होने पर भी ज़ोया अपनी स्नेहमयी जननी की विषादमयी चेष्टा न भूलती थी। जब-जब उसे अवकाश मिलता तो वह दो पंक्तियाँ लिख भेजती थी—

"प्यारी माँ! मैं अभी स्वस्थ और जीवित हूँ। घर का क्या हाल है? यहाँ का कार्य समाप्त करके मैं शीघ्र ही तुम्हारे पास आऊँगी। तुम्हारी ज़ोया।"

उन दिनों मास्को के पतन की आशंका पैदा हो गई थी। पास ही पेट्रिटशेवो ग्राम में जर्मन-सेना एकत्र हो गई थी और उनकी संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। ज़ोया अपने दस साथियों के साथ उनकी खोज में निकल पड़ी। जंगलों में रात भर गश्त लगा कर वे जर्मन लोगों को नष्ट-भ्रष्ट करने की बात सोचते थे और दिन में आग बना कर तापते अथवा वृक्षों की जड़ से पीठ लगा कर सो जाते थे। कई-कई दिन उन्हें भोजन न मिलता था, किन्तु किसी को भी इस बात की परवाह न थी। उनके समक्ष कार्य की महत्ता इतनी प्रमुख हो जाती थी कि खाना-पीना और शरीर पर ध्यान देना उन्हें सूझता ही न था।

एक रात को ज़ोया अकेली ही पेट्रिटशेवो ग्राम के लिये चल पड़ी। शत्रु-शिविर में उसने चुपके से जाकर आग लगा दी और टेलीफोन के तार काट डाले। इसके पश्चात् वह अपने साथियों में आ मिली।

दूसरे दिन उन लोगों को ज्ञात हुआ कि आग से विशेष क्षति नहीं हुई। ज़ोया को अपनी विफलता पर खेद हुआ। उसने कहा, "मैं फिर जाऊँगी।"

गुरीला कमाण्डर ने सलाह दी, "तुम कुछ दिन ठहर कर जाओ, क्योंकि अभी वे लोग सतर्क होंगे।"

किन्तु ज़ोया को एक दिन के लिए भी चैन न था। अपने कार्य को पूरा करने के लिए वह उतावली और चंचल हो रही थी। दूसरे

दिन शाम को उसने लड़के का भेष बनाया और रिवॉल्वर तथा एक ज़रूरी सामान का थैला कंधे पर डाल कर निकल पड़ी। चलते हुए उसने क्लावा नाम की एक गुरीला साथिन से कहा, "यदि मुझे कुछ हो गया तो तुम वायदा करो कि मेरी मृत्यु का समाचार मेरी माँ तक पहुँचा दोगी।"

उसने प्यार से ज़ोया की पीठ थपथपाई और कहा, "भला मैं तुम्हारा पूरा नाम तक तो जानती नहीं, फिर कैसे तुम्हारी माँ को लिख सकती हूँ ?"

"बस, तुम मेरे गाँव का नाम लिख देना और पत्र पहुँच जाएगा।" यह कह कर ज़ोया द्रुत गति से जंगल के सघन अंधकार में मिल गई।

वह उसी गाँव में पहुँची जहाँ दो दिन पहले गई थी। कहीं भी कोई आहट न थी, न प्रकाश ही। कोई पहरेदार अथवा गार्ड भी द्रष्टव्य न था। ऐसा ज्ञात होता था मानो सारा गाँव गहरी नींद सो रहा है। ज़ोया अस्तबल में घुस गई और अविलम्ब घास पर तेल छिड़क कर दियासलाई जलाई। एक सींक टूट गई। दूसरी जलाते ही उसका हाथ किसी ने पीछे से पकड़ लिया। आदमी को धक्का देकर ज़ोया ने रिवॉल्वर निकाला, किन्तु उसे चलाने का अवकाश न दिया गया। रिवॉल्वर छीन कर उसके हाथ पीठ के पीछे बाँध दिये गये थे। इसके पश्चात् जर्मन गार्ड उसे एक मकान के भीतर ले गये और उसके अधिकाँश वस्त्र उतार लिए गये। तभी उन्हें ज्ञात हुआ कि ज़ोया लड़का नहीं, वरन् लड़की है। बन्दूक की नोक पर उसे सैनिक हेडक्वार्टर में ले जाया गया और जर्मन कमाण्डर ने उसे एक बेंच पर खड़ा करके पूछा—

"तुम कौन हो ?"

"मैं आपको कुछ भी बताना नहीं चाहती।"

"क्या तुमने ही उस रात को आग लगाई थी ?"

"जी हाँ।"

"इससे तुम्हारा क्या उद्देश्य था ?"

"मैं आप लोगों को नष्ट करना चाहती थी।"

"तुम वहाँ से कब चली थीं ?"

"शुक्रवार को।"

"इतनी जल्दी कैसे आ गई ?"

"तो क्या आप चाहते थे कि मैं देर में पहुँचूँ ?"

कमाण्डर ने यह जानने का यत्न किया कि वह कहाँ से आई है, उसे किसने भेजा है और उसके अन्य साथी कहाँ छिपे हैं, किन्तु अठारह वर्षीया ज़ोया ने निर्भीक होकर उत्तर दिया, "मैं आपको कुछ भी बताना नहीं चाहती।"

चिढ़ कर कमाण्डर ने ज़ोया को कोड़े लगाने का हुक्म दिया। दस कोड़े लगाने के बाद फिर प्रश्न किया गया, "क्या यह बताओगी कि गुरीला फौज कहाँ छिपी है ?"

"हर्गिज़ नहीं, कभी नहीं।" वह पूर्ववत् दृढ़ रही।

कोड़े लगाने की प्रक्रिया पुनः जारी हो गई। उसके कपड़े खून से तर हो गए थे, किन्तु वह रोई अथवा चिल्लाई नहीं। उसने अपने ओठों को इतना कस कर भींच लिया था कि उनमें से रक्त बह उठा था। उस मकान की मालकिन एक रूसी किसान-महिला इस दृश्य को देख रही थी। भय और करुणा से अभिभूत होकर उसका अंग-प्रत्यंग काँप रहा था, किन्तु ज़िद्दी ज़ोया के मुँह से कोई भी ऐसा शब्द न निकलता था जो उसका भेद खोल सके।

दो घण्टे बाद उसे अर्द्ध-नग्न और बिना जूते के एक दूसरे किसान के घर ले जाया गया। उसकी शारीरिक दुरवस्था देखकर किसान और उसकी पत्नी के रोंगटे खड़े होगए। ज़ोया के वस्त्र खून से लथ-पथ थे। शरीर पर सूजन और रक्त की रेखाएँ उभर आई थीं, उसके ओंठ घायल थे और माथे पर चोट की गाँठें-सी पड़ गई थीं। हाथ-पैर सूजकर फूल गए थे, जिससे खड़े होने में भी उसे नितान्त कष्ट होता था। उसके हाथों को कसकर पीठ के पीछे बाँध दिया गया था। सिर के बाल बिखर गए थे और साँस बड़ी कठिनाई से ली जा रही थी। गार्ड ने उसे एक बेंच पर बैठने का हुक्म दिया और स्वयं द्वार पर बैठ गया।

किसान ने प्यासी ज़ोया को पानी पिलाने का प्रयत्न किया,

किन्तु गार्ड ने अनुमति न दी। उस नृशंस ने लालटेन दिखाकर ज़ोया को चिढ़ाते हुए कहा कि इसके लिए तो मिट्टी का तेल ही पेय है। वह कभी उसे गाली देता, अपशब्द कहता, परेशान करता और व्यंग करता था। उसे नंगे और घायल पैरों से गली में घूमने के लिए बाध्य करता था। सभी अत्याचारों को ज़ोया चुपचाप सहती रही। लगभग सोलह घंटे बाद दूसरा गार्ड ड्यूटी पर आया। उसने उसे पानी पीने की आज्ञा दी और कुछ देर सोने का भी अवकाश दिया। ज़ोया के हाथ बुरी तरह जकड़े हुए थे। उसने गार्ड से जर्मन भाषा में कहा, "मेरे हाथ खोल दो।" उसके हाथ खोल दिए गए और वह लेट गई। कृषक-पत्नी ने उसे कम्बल से ढक दिया और अवसर पाकर पूछा, "क्या तुम्हारे माँ नहीं है ?"

ज़ोया को किसी पर भी विश्वास न था—एक रूसी महिला पर भी नहीं। वह अपना रहस्य व्यक्त करने को उद्यत न हुई। किसान-स्त्री ने समझाया, "तुम भय न करो। हमारी बातें यह गार्ड समझ नहीं सकता।" फिर पूछा, "क्या तुम्हीं ने दो दिन पूर्व आग लगाई थी ?"

"हाँ, मैंने ही।" ज़ोया ने उत्तर दिया।

"तुम्हारा क्या मन्तव्य था ?"

"मैं जर्मन सैनिकों को नष्ट-भ्रष्ट कर देना चाहती थी। मुझे ऐसी ही आज्ञा दी गई थी।"

इसके पश्चात् ज़ोया ने यह सब पता लगा लिया कि उस दिन कितने मकान, कितने घोड़े और कितने जर्मन सैनिक नष्ट हुए थे। उसे यह जानकर दुःख हुआ कि आग से विशेष हानि न हुई थी।

रात्रि में कुछ घंटे ज़ोया सोई।

प्रातःकाल जर्मन लेफ्टिनेंट-कर्नल और अन्य अफसरों ने ज़ोया से भाँति-भाँति के प्रश्न किए। उसे हर प्रकार बाध्य किया गया, किन्तु उसका भेद किसी को विदित न हो सका। अब केवल अन्तिम उपाय रह गया था।

गाँव के मध्य में स्थित वध-यन्त्र के पास उसे ले जाया गया।

सहस्रों जर्मन सिपाही वहाँ एकत्रित थे । ज़ोया के गले में वह थैला लटका दिया गया था जिसमें वह आग लगाने का सामान लिए हुए थी। गुरीला फौज़ के आक्रमण की आशंका से भयभीत होकर चारों ओर सशस्त्र घुड़सवार पहरा दे रहे थे। आसपास के गाँवों के रूसी-किसानों को भी आमन्त्रित किया गया था, ताकि वे फाँसी से आतंकित होकर विरोधी भावनाएँ त्याग दें, किन्तु अधिक न आए थे और जो आए थे वे उसकी दुरवस्था पर आँसू बहा रहे थे।

ज़ोया को उठाकर एक बक्स पर खड़ा कर दिया गया। फाँसी का फंदा उसके गले में डाल दिया गया था। एक जर्मन अफसर फाँसी का दृश्य खींचने के लिए कैमरा ठीक करने लगा तो इसी बीच ज़ोया ने सुअवसर पाकर रोते हुए रूसी-किसानों को सम्बोधन करके कहा:—

"साथियो ! इतने उदास क्यों हो ? साहसी और वीर बनो, संघर्ष करते रहो, जर्मनों को जान से खत्म कर दो, उन्हें जला दो, उन्हें नष्ट कर दो। मैं मरने से नहीं डरती । अपने देश और देश-वासियों के लिए प्राण-त्याग देना बहादुरी है।"

वधिक ने झटका दिया और ज़ोया का दम घुटने लगा। किन्तु उसने आश्चर्यजनक फुर्ती से अपनी समस्त शक्ति लगाकर दोनों हाथों से फंदे को ढीला कर दिया और चिल्लाई, "विदा साथियो ! लड़ते रहो, लड़ते रहो, क़दम पीछे न हटाओ । स्तालिन हमारे साथ है। स्तालिन का राज्य होगा।"

वधिक ने अपने भारी जूते से सन्दूक को, जिसपर ज़ोया खड़ी थी, ज़ोर की ठोकर दी और उसका निर्जीव शरीर हवा में लटक गया।

पाँच दिसम्बर, सन् १६४१ को ज़ोया को फाँसी दी गई थी। इसके पश्चात् तीन हफ़्ते तक पानी, हवा, बर्फ़ में ज़ोया का शरीर तख्ते पर लटका रहा। रूसी-जनता को भयभीत करने के लिए जर्मन अफसरों ने गाँव वालों को उसका शव उठाने की अनुमति न दी थी। तीन सप्ताह बाद शव उतारा गया और गाँव वालों को सौंप दिया गया।

सैनिक सम्मान के साथ शव का जलूस निकाला गया। अधिक भीड़ न थी। वर्षा हो रही थी। लोगों के हृदय डूब रहे थे, वाणी मूक

थी और नेत्रों से आँसू झर रहे थे। ज़ोया के शव को फाँसी के फन्दे सहित पृथ्वी के गर्भ में समाहित कर दिया गया।

ज़ोया को 'सोवियत-यूनियन के योद्धा' की उपाधि दी गई है। जब-जब दारुण स्थिति सामने आती है, ज़ोया का व्यक्तित्व मुखर होकर यह संदेश देता प्रतीत होता है :—

"किसी के भी सामने घुटने न टेको। कैसी भी असहायावस्था और असमर्थता क्यों न हो, दया की भीख न माँगो। चाहे शत्रु तुम्हें कितना ही शारीरिक कष्ट दे, यन्त्रणा पहुँचावे, तुम्हारी गर्दन ही क्यों न उड़ा दे, उसके अनुचित और बेढंगे प्रश्नों का उत्तर मत दो। शत्रु के दिल में यह विश्वास दृढ़ कर दो कि कोई भी शक्ति तुम्हें परास्त करने अथवा उसके समक्ष मस्तक झुकाने के लिए बाध्य नहीं कर सकती।"

जेन एडम्स

जन्म तिथि : सन् १८६०
जन्म स्थान : सीडारविल, इलिनायस (अमेरिका)
मृत्यु तिथि : सन् १९३५
मृत्यु स्थान : शिकागो

जेन एडम्स

जेन एडम्स का व्यक्तित्व अपने देश की उस अतीत पृष्ठभूमि से बँधा है जहाँ कि उनकी निर्भीक आत्मा की पुकार आज भी प्रतिध्वनित होकर सतत कर्मशीलता की दीप्ति बिखेरती है। उन्होंने जीवन पर्यन्त जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उनमें विश्वात्मा की उच्चाकांक्षाओं और सत्-आदर्शों का प्रतिबिम्ब झलकता है। उनके रचनात्मक कार्यों में मानवतामूलक संवेदनाओं का तकाज़ा है। मौजूदा समाज की ग़लतियों पर आघात करके उन्होंने नूतन विचारों की सृष्टि की, दुनिया के लोगों को नए सिरे से सोचने के लिए बाध्य किया और कालान्तर से विस्मृत उन मानवीय प्रच्छन्न शक्तियों को उद्बुद्ध किया, जिनमें प्रसुप्त मानव-चेतना को अपने अस्तित्व के उद्गम की थाह-सी मिली।

एक अत्यन्त समृद्ध परिवार में जन्म लेकर भी उनके जीवन में किस प्रकार ऐसा आमूल परिवर्तन हुआ इसकी भी एक रोचक कहानी है। लन्दन में एक रात को वे कहीं अन्यत्र जाने के उद्देश्य से किराये की मोटर-बस में बैठीं, जो धीरे-धीरे दुर्गन्धमय गलियों को पार करती हुई ईस्ट-एंड की ओर जा रही थी। एक गली के मोड़ पर निर्धन स्त्री-पुरुषों की अपार भीड़ खड़ी थी, जो एक दुकान से दिन भर की बची हुई सड़ी-गली तरकारियों को सस्ते दामों पर खरीद रही थी। भीड़ के कारण कुछ देर बस को रुकना पड़ा और इसी बीच जेन एडम्स ने जो दर्दनाक दृश्य देखा उसने उन्हें चिकित्सक से सामाजिक-चिन्तक में परिणत कर दिया। मैले-कुचैले, जीर्ण वस्त्रों में लिपटे मानव, जिनका क्लान्त मुख, धँसी हुई आँखें, अर्द्ध-नग्न शरीर और कंधों की उभरी हड्डियाँ दरिद्रता को साकार करती हुई उनके इतिहास को व्यक्त कर रही थीं। गैस-लैम्प का आँखों को फोड़ने वाला प्रकाश, गन्दगी की दुर्गन्ध और स्थान का संकोच, जो वहाँ के वातावरण को अधिकाधिक असह्य बना रहा था। चिल्लाहट, कशमकश, छीना-झपटी और अन्ततः एक बड़े-से सड़े बैंगन को उछालने की हल्की ध्वनि, जो एक झपाके में दो हाथों ने थाम लिया था। एक निर्धन ने दो पेंस में उसे प्राप्त करके अपना सौभाग्य समझा और वह भाग्यवान व्यक्ति एक पत्थर पर बैठ कर उस सड़े हुए, कीड़े खाए बैंगन को कच्चा ही चबा गया, जब कि उसके बदक़िस्मत साथी सस्ती से सस्ती वस्तु को प्राप्त करने के लिए होड़ सी लगा रहे थे। मिस एडम्स ने लिखा है, "न केवल उनके मलिन, जीर्ण वस्त्र, मुरझाए चेहरे, पिचके गाल, धँसी हुई आँखें, विवश चेष्टा, प्रत्युत गैस-लम्प के चकाचौंध करने वाले अनिश्चित प्रकाश में फैले हुए सैंकड़ों ख़ाली, बेढंगे, निर्जीव, परिश्रम से श्रांत, दर्दनाक हाथ, जो सड़े-गले दुर्गन्धमय खाद्य को अत्यन्त चाह से पकड़े हुए गर्व का अनुभव कर रहे थे, मेरी स्मृति में धँस गए हैं।"

इसके पश्चात् अपनी लन्दन-यात्रा में वे पुनः कभी भी ऐसी गलियों और मोहल्लों में नहीं गई जहाँ ऐसे दृश्यों की पुनरावृत्ति होती जीवन का एक नवीन परिच्छेद मानों उनके दृष्टि-पथ के

सम्मुख बिछ गया था। स्वयं वैभव में अठखेलियाँ करते हुए उन्होंने मनुष्य के कष्ट और दुःखों को बस की छत से झाँक कर देखा था। ग़रीबों का साथ देने के लिए उन्होंने अपनी ऊँचाई से नीचे उतरना आवश्यक समझा और तभी से मानवता में रमकर पीड़ित और समाज के सबसे उपेक्षित वर्ग को अपना लेने के लिए वे आतुर हो उठीं।

यही नहीं, वरन् बहुत बाल्यावस्था से ही उनमें समाज-सेवा के लिए जीवन समर्पित करने की आकांक्षा के अंकुर पनप रहे थे। जब वे साढ़े तीन वर्ष की थीं, तभी उन्होंने एक दिन अपने मकान के द्वार पर लहराते हुए काले झण्डे को देखकर अपने पिता से पूछा था—

"यहाँ यह झण्डा क्यों लगा है ?"

"दुनिया का एक बहुत बड़ा आदमी मर गया है।"

"उसका नाम क्या है ?"

"अब्राहम लिंकन।"

एक और ऐसे ही अवसर पर अपने पिता को उदास देख कर उन्होंने फिर यही प्रश्न किया था और इसका कारण बताते हुए पिता ने कहा था कि मानवता के सच्चे हितैषी जोज़ेफ़ मेज़िनी की मृत्यु हो गई है। कई वर्ष बाद जेन एडम्स ने लिखा, "मेरा हृदय गर्व से भर गया कि मैं एक ऐसे व्यक्ति की अंश हूँ जो बड़े-बड़े मस्तिष्कों की विचारधारा से परिचित है।"

जेन एडम्स जब दो वर्ष की थीं तभी उनकी माता की मृत्यु हो गई थी और इसके बाद से पिता ही उनके लिए सब कुछ हो गए। उनका समस्त स्नेह और श्रद्धा पिता में आकर सिमट गई थी। यदि कभी अनजाने में वे पिता के सामने झूठ बोल देती थीं तो उन्हें चैन न पड़ता था और रात्रि में अपना अपराध स्वीकार करते हुए वे उनसे क्षमा-याचना करती थीं। सीडारविल (इलिनायस) के एक समृद्ध मिल-मालिक और स्टेट-सीनेटर होने के बावजूद भी जेन एडम्स के पिता एक अत्यन्त विचारशील और उदार व्यक्ति थे। उन्हें अपने

पड़ौसियों पर इतना भरोसा था कि उन्होंने रात्रि में अपने मकान के प्रमुख द्वार को कभी बन्द नहीं किया। जेन को दुःख था कि वह अपने पिता के अनुरूप सन्तति क्यों न हुई। पिता का प्रभावशाली, सुन्दर व्यक्तित्व और वह नाटी और प्रतिभाहीन। वह एकान्त में प्रायः सोचती, "प्रभु ! तुमने मुझे लड़का क्यों न बनाया ?" रविवार को जब अपरिचित व्यक्ति प्रार्थना के लिए जुड़ते तो वह मन ही मन प्रार्थना करती कि हे भगवन् ! वे मुझ मनहूस को इस विराट् व्यक्तित्व से सम्बन्धित न समझें तो अच्छा। चर्च में वह अपने पिता के साथ न जाकर चाचा के साथ नित्य जाती थी, क्योंकि वे उसके साथ जँच जाते थे।

किन्तु एक दिन उसकी इस स्वात्म-हीनता की भावना को पिता ने कम किया। जेन अपने चाचा के साथ बाजार में कुछ आवश्यक सामान खरीदने गई थी। अचानक भीड़ को चीर कर पिता का शानदार व्यक्तित्व उसे अपनी ओर बढ़ता हुआ दीख पड़ा। वह शर्माती हुई सिमट कर अपने चाचा की ओट में छिप गई और धड़कते दिल से सोचा, "क्या इस भीड़ में भी ये मुझे बेटी कह कर सम्बोधन करेंगे ?" और तभी स्नेह-सिक्त स्वर गूँज उठा, "कहाँ जा रही हो ? मेरी बच्ची !" जेन ज़मीन में गड़-सी गई। लड़खड़ाती आवाज़ में बोली, "पापा ! क्या इस भीड़ में मुझे अपनी बेटी बताने में आपको संकोच नहीं होता ?"

"पगली लड़की ! मुझे तो गर्व का अनुभव होता है।"

और उसी दिन से जेन ने पिता के गर्व के अनुरूप अपने को बनाने का प्रयत्न किया। उसने प्लूटार्क और अन्य कतिपय महान् व्यक्तियों की जीवनी और कृतियों का अध्ययन किया, जिन्होंने उसके हृदय पर गहरी छाप डाली।

सत्रह वर्ष की आयु में जेन एडम्स ने रॉकफोर्ड कॉलेज में प्रवेश किया और वहाँ ये दो अन्य महापुरुषों की विचारधारा की कायल हुईं। कनकॉर्ड के संत इमर्सन और क्राइस्ट की वे भक्त हो गईं। इमर्सन के निबन्धों को पढ़ कर उन्हें कला और काव्य-सौंदर्य की ओर उन्मुख

होने की प्रेरणा मिली और क्राइस्ट के सदुपदेशों ने उनके समक्ष सेवा की सूक्ष्मता को उद्घाटित किया। प्रत्येक रविवार को वे ग्रीक भाषा के मूल-ग्रन्थ 'न्यू टेस्टामेंट' का एक अध्याय पढ़ती थीं। वे सोचतीं—क्राइस्ट के जीवन की महान् घटनाएँ कितनी उत्साहवर्धक हैं, कितनी प्रेरणामूलक! वे स्वयं अपने मास्टर की भांति अपने जीवन को दुःखियों की सेवा और रोगियों के उपचार में लगाना चाहती थीं।

उन्होंने चिकित्सक बनने का संकल्प किया और सन् १८८१ में वे फिलैडेल्फिया के मेडिकल कॉलेज में दाखिल हो गईं। कुछ दिन बाद ही वे अकस्मात् अस्वस्थ हुईं और डाक्टरों ने उन्हें लेबोरेटरी में कड़ा श्रम करने की बजाय यूरोप में भ्रमण करने की सलाह दी। इसी बीच लन्दन में जो उन्होंने करुण दृश्य देखा उसने अंधकार से आलोक में आने का मंगलमय मार्ग उनके सम्मुख प्रशस्त कर दिया। क्राइस्ट के वचनामृतों ने, इमर्सन के सुनहरे शब्दों ने उनपर जादू का-सा असर किया और उन्होंने एक निर्धारित पथ चुन लिया। एक दिन मेड्रिड में वे बैलों की लड़ाई देख रही थीं। बैल की दारुण हत्या और दर्शकों की असभ्य प्रशंसा से उनमें तीव्र घृणा की लहर दौड़ गई। आह! तमसाच्छन्न मानव-मस्तिष्क कितना भयावह, कितना अदूरदर्शी, कितनी नृशंस और कुत्सित भावनाओं से भरा है। उसके कारण निर्दोष जीवों को भी कितना कष्ट और संताप सहना पड़ता है। उन्होंने संकल्प किया कि वे इस अनाचार को रोकने का उपाय करेंगी। उनमें पृथ्वी के छोटे-से छोटे और बड़े-से बड़े जीव के लिए आश्चर्यजनक स्वातन्त्र्य-भावना की मूक-साधना जगी और वे कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ हो गईं।

कार्य दुष्कर था, किन्तु अपनी अन्तःप्रेरणा के भरोसे वे शिकागो लौट आईं और काम शुरू कर दिया। सन् १८४४ से सन् १८८६ तक मध्यप्रदेशीय जनसंख्या आठ हजार से दस लाख तक बढ़ गई थी, जिनमें लगभग पचास हजार सात सौ व्यक्ति विदेशी थे। अंग्रेज, जर्मन, यहूदी, नीग्रो, रूसी, पोल, आयरिश, इटालियन, फ्रांसीसी, स्केण्डिनवियन, बोहेमियन, स्विस आदि जातियाँ वहाँ आकर बस गई थीं, जिनमें विचारों का आदान-प्रदान और घनिष्ठ सम्पर्क न

होने के कारण अनेक मतभेद, पक्षपात और ग़लत-फहमियाँ भरी हुई थीं। सामाजिक-सेवा का सुअवसर जान कर जेन एडम्स ने हॉलस्टेड स्ट्रीट में एक मकान किराए पर लिया और उसके बड़े-बड़े हॉल और कमरों को आवश्यक फर्नीचर—टेबुल, कोच, तसवीरों आदि से सुसज्जित करके जनता की सुविधाओं से भरपूर किया, जो बाद में 'हल-हाउस' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनका ध्येय था देशी-विदेशी, छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब को एक करना, उन्हें एक सूत्र में बाँधना, एक पथ का अनुयायी बनाना। ग़रीब सुख-सुविधाओं के लिए तड़प रहे थे और धनिक स्नेह-सद्भावना के इच्छुक थे। मिस एडम्स ने अपने मकान के द्वार पर यह लिख कर टाँग दिया था, "जो भूखे हों—वे यहाँ आएँ और भोजन करें; जो श्रांत हों—वे यहाँ आएँ और विश्राम करें।"

पहले लोगों को सन्देह हुआ—आखिर यह औरत चाहती क्या है? ऐसा करने से इसका कौन-सा स्वार्थ सिद्ध होगा? यह हम ग़रीबों को बुला कर और सुविधा देकर हमसे क्या प्राप्त करेगी? समृद्ध घरानों में ऐसी प्रथा न थी, अतएव उन लोगों ने समझा कि इसमें अवश्य कुछ न कुछ भेद छिपा है। अच्छा है कि ऐसे वातावरण से पृथक् रहा जाये। किन्तु जो हिम्मत करके जेन एडम्स के सम्पर्क में आए वे उनके सरल व्यवहार और मृदु-स्वभाव पर मुग्ध हो गये। उन्होंने उनमें कल्पनातीत उदारता और परोपकार-भावना पाई। नित्य प्रति 'हल-हाउस' में लोगों के आने-जाने का क्रम बढ़ता गया। एक दिन एक ग्रीक महिला अपने रुग्ण बालक को हाथ में थामे क्रन्दन करती हुई वहाँ घुस गई। उसका पति कहीं दूर काम पर गया था और बच्चा मरणासन्न स्थिति में था। इतने पैसे भी उसके पास न थे कि वह अपने बच्चे को डॉक्टर को दिखा सके। जेन एडम्स ने तत्काल डॉक्टर बुलाया, दवा दी और इस प्रकार मरते हुए बालक की रक्षा हो गई।

एक दूसरे मौके पर एक नव-विवाहिता इटालियन वधू अपने पति से भयभीत होकर 'हल-हाउस' में चली आई, क्योंकि उसने अपने विवाह की मांगलिक अंगूठी खो दी थी और इस बात से उसका पति अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा था। मिस एडम्स ने उसके पति को बुलाकर

शान्त किया, जल-पान कराया और एक नई अंगूठी ख़रीदने को पैसे दिये, जिससे पति-पत्नी में पुनः समझौता हो गया और दोनों अत्यन्त खुश होकर प्रेम से घर वापिस लौट गए।

शनैः-शनैः उन्होंने कारखाने में काम करने वाली माताओं की सुविधा के लिए 'शिशु-पालन-गृह' और बड़े बच्चों के लिये किण्डर-गार्टन क्लासें खोल दीं। केवल कुछ पेंस लेकर यहाँ बच्चों के पालन-पोषण, आमोद-प्रमोद और खिलाने-पिलाने की बहुत सुन्दर व्यवस्था की जाती थी। माता-पिताओं के लिये भोजन-गृह और एक आर्ट-गैलरी भी खोली गई थी, जिसमें खाने-पीने की सुविधाओं के साथ-साथ मस्तिष्कीय-उन्नति के प्रसाधन भी मौजूद थे।

जेन एडम्स प्रायः कहा करती थीं; "यदि विभिन्न जातियाँ एक दूसरे को समझ सकें तो पारस्परिक विद्वेष और युद्ध की संभावनाएँ बहुत कम पैदा हों।" अपने विचारों को कार्य्यान्वित करने के लिए वे इस दिशा में अग्रसर हुईं और उन्होंने 'गुड-नेबर-पॉलिसी' अर्थात् पड़ौसियों से सद्-व्यवहार की नीति क़ायम की। एक बार मिस एडम्स की प्रेरणा से आयरिश महिलाओं ने इटालियन स्त्रियों को आमन्त्रित किया। इस सिलसिले में एक बड़ी ही रोचक घटना यह घटी कि इटालियन महिलाओं ने स्वयं आने का कष्ट न करके अपने पतियों को वहाँ भेज दिया। 'सोशल-एक्सटेंशन कमेटी' की आयरिश औरतें जब ड्राइंग-रूम में घुसीं तो उन्होंने देखा कि इटालियन श्रमिकों की एक लम्बी क़तार सारी मेज़-कुर्सियों को आच्छन्न किए है। नृत्य-संगीतादि के प्रोग्राम में खलबली सी मच गई, किन्तु वे खुशदिल व्यक्ति अपनी स्त्रियों की कमी पूरी करने के लिए कमर कस कर तैयार हो गए। दो-दो की टोली ने मिलकर बड़ा सुन्दर नृत्य किया, गीत गाए और ऐसे-ऐसे खेल प्रदर्शित किए जिनसे दर्शकों का पर्याप्त मनोरंजन हुआ। मिस एडम्स की इस पद्धति पर सारे अमेरिका में अनेकों अंतर्राष्ट्रीय-सहयोग-संस्थाएँ खोली गईं, जिनका प्रभाव दूर-दूर तक पड़ा।

इसके अतिरिक्त अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में बाल-मज़दूर समस्या भयंकर रूप धारण कर गई थी। व्यावसायिक-केन्द्रों

में छः सात साल के बच्चों का बाहुल्य था, जिन्हें तिहाई मजदूरी पर चौदह घण्टे कड़ा श्रम करना पड़ता था। सुई-व्यवसाय में चार-पाँच साल के अबोध बालक ही काम पर लगा दिए जाते थे, जो प्रायः मशीन के शिकार होकर जन्म भर के लिए पंगु अथवा अपने प्राणों से हाथ धो बैठते थे। जेन एडम्स ने असंख्य कार्यों में व्यस्त होते हुए भी इस उत्तरदायित्व को अपने सिर पर लिया और बाल-श्रम समस्या में छानबीन शुरू कर दी। उन्होंने इलिनायस में विभिन्न स्त्री-पुरुषों की कार्य-कर्तृ संस्थाओं को आमन्त्रित किया और सबके समक्ष भाषण देते हुए एक स्टेट-कानून घोषित किया, जिसके अनुसार सोलह वर्ष से कम उम्र के बालकों के लिए सुबह सात बजे से पूर्व और रात्रि में सात बजे के बाद कार्य करने का सख्त निषेध किया गया। चौदह वर्ष से कम आयु वाले बच्चों को इस कानून के अनुसार शाम को छः बजे के बाद काम करना नहीं पड़ता था। यह 'जेन-एडम्स-कानून' कई स्थानों पर लागू कर दिया गया। उन्हीं दिनों बोस्टन के 'जर्नल ऑफ् एजूकेशन' नामक मासिक-पत्र में प्रकाशित हुआ, "यदि आप बाल-श्रम की बुराइयों को खत्म कर देना चाहते हैं तो अपनी स्टेट के लिए लागू होने वाले कानूनों को जेन एडम्स के पास भेज दो। वे आवश्यक संशोधन करके इसके महत्त्व को औरों से अधिक समझ-समझा सकेंगी।"

न केवल उन्होंने बच्चों को कारखानों और व्यावसायिक-केन्द्रों में अनुचित श्रम से रोका, वरन् उन्होंने उनके मनोरंजन के लिए अनेक क्रीड़ागृह और खेल के मैदानों की व्यवस्था भी की। उनके प्रयत्न के फलस्वरूप आज अमेरिका की प्ले-ग्राउण्ड प्रणाली बहुत ही सुन्दर और व्यवस्थित है।

'दि स्पिरिट ऑफ् यूथ' (The Spirit of Youth) नामक अपनी पुस्तक में उन्होंने युवकों को आगे बढ़ने को प्रेरित किया। उन्होंने लिखा है, "अपने भीतरी दैवी प्रकाश को बुझने न दो, वरन् उसे दिव्य अग्नि-स्फुलिंगों में प्रज्ज्वलित कर दो। ऐसा न हो कि हम निरपेक्ष भाव से बुझी हुई चिनगारियों की राख पर हाथ मलते रहें। आगे बढ़ो और आत्मा की अमर साधना जगाओ।" इसके अतिरिक्त

अपनी अन्य पुस्तकों 'डेमोक्रेसी एण्ड सोशल इथिक्स' (Democracy and Social Ethics), 'न्यूअर आइडियल्स ऑफ पीस' (Newer Ideals of Peace), 'ए न्यू कानशेन्स' (A New Conscience), 'दि लॉंग रोड ऑफ् वुमैन्स मेमोरी' (The Long Road of Woman's Memory), 'ट्वंटी इयर्स एट हल-हाउस' (Twenty Years at Hull-House) और 'सेकिण्ड ट्वंटी इयर्स एट हल-हाउस' (Second Twenty Years at Hull-House) आदि में उन्होंने मानवीय संवेदनाओं को कलात्मक-स्वरूप देते हुए उसमें व्यापक जीवन-परिणति का सौंदर्य व्यंजित किया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि विभिन्न देशों के सैंकड़ों-हज़ारों बच्चे 'हल-हाउस' में नित्य आते थे और मिस एडम्स के तत्त्वावधान में परस्पर विचारों का अदान-प्रदान और स्नेह-सद्भावना प्राप्त करके खुश होते थे। उन्होंने अपने जीवन का चरम ध्येय बना लिया था शान्ति का प्रसार, विभिन्न देशों और जातियों में पारस्परिक सहयोग-भावना, एक दूसरे के विचारों से अवगत होना, उनके अंतरंग मनोभावों में पैठना और दुःख-सुखों में साथ देना। यों वे एक दूसरे की भाषा न समझते थे, किन्तु उनकी आत्मा के मूक-स्वर एक दूसरे में प्रविष्ट होकर कोई अभिनव, अवर्णनीय संदेश उनके कानों में कह जाते थे। बच्चे बहुत शीघ्र ही समझ गए कि परस्पर राग-द्वेष, वैमनस्य, भ्रान्त-धारणाएँ, ग़लत-फहमियाँ बुद्धिमानों की नहीं, प्रत्युत बेवकूफ़ों की चीज़ें हैं। रूसी, इटालियन, अंग्रेज, यहूदी, पोल, नॉरवेजियन, लिथुनियन और ज़ेच आदि जो भी बच्चे वहाँ आते थे उनमें एक ही चाह, एक ही आकांक्षा होती थी और वह यह कि हृदय से हृदय के तार झनझना जाएँ, मानव में मानव के प्रति जो स्वाभाविक स्नेह और भ्रातृ-भावना होती है वह दृढ़ हो और उत्तरोत्तर बढ़ती जाए।

और तत्पश्चात् मिस एडम्स ने सोचा कि जब अबोध बच्चों में ऐसी सद्भावना पैदा की जा सकती है तो फिर बड़ों में क्यों नहीं? समस्त यूरोप और सारे विश्व को क्यों न एक सूत्र में बाँधा जाए? कभी-कभी यह कार्य कठिन प्रतीत होता, लेकिन उन्होंने हिम्मत

न हारी। सन् १६१४ में जब महायुद्ध की घोषणा हुई और चहुँ ओर विक्षेप की विभीषिका फैली तो जेन एडम्स ने एक सच्चे फिलॉसफर की भाँति लोगों को शान्त करने का प्रयत्न किया। उन्होंने घूम-घूम कर और दिन में कई-कई वार भाषण देकर अपने मनोभावों को व्यक्त किया, युद्ध और विप्लव की हानियाँ समझाईं और शान्ति की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा दी। दुर्बल शरीर, पीला मुख, छोटा क़द होते हुए भी उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व और ओजस्वी वाणी थी। एक वार चेयरमैन ने भीड़ में उनका परिचय देते हुए कहा, "आप शिकागो की प्रमुख नागरिक, अमेरिका की प्रख्यात नारी और विश्व की सबसे बड़ी शुभेच्छु हैं।" जेन एडम्स ने निषेध करते हुए बीच में ही टोककर कहा, "मुझे दुःख है, किन्तु शायद चेयरमैन महोदय किसी अन्य का परिचय दे रहे होंगे।"

युद्ध के विरोध में उन्होंने डटकर मोर्चा लिया और वे निरन्तर अपने भाषणों द्वारा शान्ति के प्रसार की चेष्टा करती रहीं। गवर्नमेण्ट ने उन्हें सन्देह में वन्दी बना लिया और कई वर्षों तक उन्हें अमेरिका में ही नज़रबन्द रहना पड़ा।

जब युद्ध समाप्त हुआ तो इन्होंने अपने कर्त्तव्य की इति न समझी। वे और भी साहस से आगे बढ़ीं और युद्ध से पूर्व उन्होंने जो अमरीकन महिलाओं के सहयोग से एक 'पीस-पार्टी' (Peace-Party) क़ायम की थी, वह लड़ाई के बवण्डर में छिन्न-भिन्न सी होगई थी। लड़ाई समाप्त होने के पश्चात् शान्त वातावरण में वे इसके छिन्न-भिन्न सूत्रों को पुनः गूँथने में लगीं। अमरीकन महिलाओं की 'पीस-पार्टी' 'महिला-अंतर्राष्ट्रीय-लीग' में सम्मिलित होगई। मिस एडम्स अपनी महती सेवाओं के कारण उसकी प्रेज़ीडेण्ट चुनी गईं और सन् १६३१ का नोवल-पुरस्कार निकोलस मरे बटलर और इनमें विभक्त कर दिया गया। इन्होंने तत्क्षण अपना सारा रुपया 'महिला-अंतर्राष्ट्रीय-लीग' को दान कर दिया। "लड़ाई का सबसे बड़ा कारण हैं पारस्परिक भ्रान्त-धारणाएँ; अतएव इस रुपये को अंतर्राष्ट्रीय समझौते और सद्भावना के रूप में व्यय किया जाए, ऐसी मेरी शुभ-कामना है।"

सन् १९३५ की वसंतऋतु में उनके पेट में अकस्मात् दर्द हुआ। डॉक्टरों ने ऑपरेशन की सलाह दी। जब एम्बुलेंस उन्हें अस्पताल के लिए लेने आई तो वे हँसकर डॉक्टर से कहने लगीं; "क्या आप दो मिनिट प्रतीक्षा करेंगे? मेरे उपन्यास के कुछ पृष्ठ शेष हैं, जिन्हें मैं समाप्त करना चाहती हूँ। कहानी का अंत जाने बिना मुझे मरना रुचिकर न होगा।"

"ओह! ऐसा आप क्यों कहती हैं। आप जीवित रहेंगी।"

किन्तु ऑपरेशन करने पर डॉक्टरों को विदित हुआ कि उनके पेट में भयंकर ट्यूमर है। चार दिन बाद उनकी मृत्यु हो गई।

उनके शव के साथ पचास हजार व्यक्तियों की भीड़ थी। सैंकड़ों रो रहे थे, आहें भर रहे थे, प्रार्थना कर रहे थे। प्रत्येक के मुँह से ये ही शब्द निकल कर गूँज रहे थे। "वे किसी एक देश, एक जाति और एक धर्म की अनुयायी न थीं; वरन् सारे देश, सारे धर्म यहाँ तक कि सारा विश्व ही उनका अपना था। उन्होंने सार्वभौम सद्भावना और अपने उदार एवं उच्चतम मनोभावों को विश्व भर में प्रसारित करके महान् नारी का पद प्राप्त कर लिया था।" और कुछ ने मरने के बाद भी उनके मुख पर वह अलौकिक दीप्ति देखी, जो उनके भीतरी स्नेह-दीप को बुझाकर बाहर अपनी आभा बिखेरती हुई शून्य-पथ में कर्त्तव्य और विश्व-मैत्री की ओर दिशा निर्देश कर रही थी।

इवेंजलीन बूथ

जन्म तिथि : सन् १८६५

जन्म स्थान : लंदन (इंगलैण्ड)

इवेंजलीन बूथ

इस युग की महान् क्रान्तिकारी नारी इवेंजलीन बूथ का जीवन अंधड़ का वह तीव्र झोंका है, जो जीवन की आशा-निराशा, हास्य-रुदन और सुख-दुःख के मध्य भी अखिल मानवता के हृदय के स्पंदन और रागात्मक भावनाओं से तरंगित होकर जागरूक प्रेरणा प्रदान करता रहा है। विगत दो दशकों में अपनी अन्तरात्मा की पुकार पर वे आँधी और तूफ़ान की भाँति बेरोक-टोक आगे बढ़ती रही हैं और निविड़ निराशा की सघनता में आशा की मशाल लिये शून्यपथ को आलोकित करती रही हैं।

जिस वर्ष इवा पैदा हुई थीं उसी वर्ष उनके पिता रेवरेण्ड विलियम बूथ ने चर्च से त्यागपत्र देकर अपने जीवन को अनिश्चित दिशा में मोड़ने का संकल्प कर लिया था। कर्त्तव्य-विमुख, नास्तिक

और उच्छृङ्खल मानव-समाज को, जो चर्च अथवा भगवान् की चर्चा से कोसों दूर था, सम-सहयोग एवं आत्मवादी समाज में परिणत करने के लिए मिस्टर बूथ कमर कसकर कटिबद्ध हो गए। प्रायः वे बहुत रात्रि में अप्रज्ञात चेतना और ओज से भरे विचार-तरंगों में डूबते-उतराते लौटते। मानव-उत्कर्ष की भावना से उनका अणु-अणु चमत्कृत हो रहा था। इवा ऐसे वातावरण में रौद्र-तेज से दीप्त और हठीले आत्म-बल से ओत-प्रोत असाधारण स्वप्नों में विभोर थी। अपने पिता की ही भाँति उसके नेत्रों में भी कभी-कभी तेज आ जूझता, मान, गौरव और साहस की साधना जगती और हृदय में पौरुष हिलोरें लेता। खेल-खेल में वह अनेक बार गुड़ियों, घर की झाड़ूओं, पैरपोश, टेबुल-क्लॉथ, तकियों और कुर्सी की गद्दियों को एक स्थान पर एकत्रित करके रख देती और फिर किसी ऊँची मेज़ पर खड़ी होकर ज़ोर ज़ोर से उनके सामने व्याख्यान देती, "ये बिचारे भी तो ईश्वर की आराधना नहीं जानते। इन्हें उपदेश देना और भजन सुनाना कितना हितकर सिद्ध होगा।" एक दिन इवा सारे पड़ौस की समवयस्क बालिकाओं से कह आई, "जिस किसी की गुड़िया के हाथ-पैर, नाक, कान या और कोई हिस्सा टूट गया है, वह मुझे अपनी गुड़िया दे जाए-मैं उसे सुधार दूँगी।" जीवन्मुक्ति के बाल-सपनों में विभोर इवा का इस दिशा में यह पहला क़दम था।

इसी बीच विलियम बूथ के तत्त्वावधान में 'मुक्ति-सेनादल' (Salvation Army) का ज़ोर दिन-दिन बढ़ रहा था। इच्छा-शक्ति को ज्ञानेन्द्रियों के साथ संयुक्त करके मानव मानव का विभेद और पार्थक्य मिटाने की चेष्टा की जा रही थी। मिस्टर बूथ प्रायः कहा करते थे, "हम खाली पेट रहकर केवल धर्म से तृप्त नहीं हो सकते।" उन्होंने अपने दृढ़ आत्म-विश्वास और धारणा-शक्ति के बल पर ऐसे असंख्य लोगों को एकत्रित किया, जो निर्धन, ज़रूरतमंद, बुभुक्षित, अर्द्धनग्न और सड़कों तथा बाज़ारों, गलियों की दर-दर ठोकर खाते हुए बेकार घूमते थे। गरीबों को सुख-सुविधाएँ देकर, पतित आचरण और कुत्सित मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लाकर, भूखों को रोटी देकर, बेकार और उचक्कों को किसी काम में लगाकर ही उनका सुधार

किया जा सकता है। मिस्टर वूथ ने सोचा कि चर्च में भगव
आराधना में लीन होने की अपेक्षा ये लोग सैनिकों की वर्दी औ
फौजी-परेड से अधिक खुश होंगे । चर्च की घंटियों की अपेक्षा वा
और ढोल की आवाज़ उन्हें अधिक आकर्षित करेगी । उन्होंने ब्रिटि
सेना के अनुकरण पर मुक्ति-सेनादल का निर्माण किया ।

निराश्रितों के लिए भोजनालय खोल दिए गए, पथभ्रष्टों
सत्पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान की गई और बाह्य परिस्थितियों
उनके अनुकूल बनाने का ऐसा प्रयास किया गया जिससे उन
तमसाच्छन्न मस्तिष्क अधिक जाग्रत और सुसंस्कृत बनाए जा सके
किन्तु कभी कभी इस सब का परिणाम प्रतिकूल होता । धनाढ्यों
रुपया माँगा जाता तो वे गाली देते और अपमान करते । सराय औ
होटलों के मालिक शराब के विरुद्ध प्रचार करने से भड़क उठे थे ।
वार उचक्कों और भिखारियों को सत्पथ पर चलने के लिए क
जाता तो वे ईंट और पत्थरों की वर्षा करने लगते । मैजिस्ट्रेट जब-ज
'मुक्ति-सेना-दल' की सभाओं को भंग कराता तो सैनिकों में का
कोलाहल और हंगामा-सा मच जाता । हमेशा जान हथेली पर रख
काम करना पड़ता था । जिन-जिन बाज़ारों, गलियों, मोहल्लों औ
सड़कों से हुल्लड़ और शोर मचाती उन भिखारियों की भीड़ झ
फहराती, ढोल बजाती और ज़ोर-ज़ोर से जनमुक्ति के सिद्धान्तों
प्रचार करती हुई गुज़रती थी वहाँ लोगों के माथों पर बल पड़ जा
क्रोध से होंठ फड़कने लगते और उनके खिलाफ़ बहुत-सा विष उग
जाता । भला यह सार्वजनिक शान्ति को भंग करने वाला कौन गँव
है, जो इन भिखमंगों की भीड़ इकट्ठी करके व्यर्थ समय नष्ट कर
है ? क्या इसका दिमाग़ फिर गया है अथवा इसमें कुछ रह
छिपा है ?

किन्तु इन सब विघ्न-बाधा और भ्रान्त-धारणाओं के बावज
भी विलियम वूथ का उत्साह शिथिल न हुआ । कर्मण्य व्यक्तित्व
निर्माण निषेधों में होता है, अनुकूल परिस्थितियों में नहीं । अ
भाग्य-विधायक हम स्वयं हैं । कोई हमें आगे बढ़ने से रोक न
सकता और जब-जब विलियम वूथ द्वारा आयोजित सार्वजनि

सभाएँ पुलिस द्वारा भंग की जातीं तो वे. कूदकर खड़े होजाते और चिल्लाकर कहते,"हाँ साथियो ! अब फोटो खींचने का सुन्दर मौक़ा है। शीघ्र ही कल सुबह के समाचार-पत्रों के लिए मसाला इकट्ठा कर लो।"

ऐसे वातावरण में रहकर इवा ज्यों ज्यों समझदार होती गई वह जीवन-साधना के महत्त्व को हृदयंगम करती गई। मानव-जीवन के युगल पक्ष—भौतिकवाद और अध्यात्मवाद, मानव की अंतर्मुखी एवं बहिर्मुखी समस्त शक्तियों का परिस्फुरण अथवा यों कहिए कि व्यक्तित्व और आत्मा का सर्वांगीण विकास ही उसने अपने जीवन का ध्येय बना लिया। एक दिन उसने धन-वैभव, घर की सुख-सुविधाओं और अच्छे वस्त्रों का परित्याग करके चिथड़े लपेट लिए और अन्य फल वेचने वाली लड़कियों की भाँति पिकेडिली सर्कस में फूल और दियासलाई वेचकर गुज़ारा करने लगी। शनैः शनैः वह दुःखों से जूझने लगी। रोगियों की सेवा और भूखों के लिए भोजन आदि की व्यवस्था करने में उसका अधिकांश समय वीतता था। काम के बोझ ने उसे श्रांत कर दिया और वह बीमार पड़ गई। कुछ दिन तक उसे लगा जैसे ज्वर की तपन में उसके सिर के वाल उड़ जाएँगे और शरीर भस्म हो जाएगा। किन्तु वह अच्छी हो गई। जगत् के पाप, दुःख, वेदना, उत्पीड़न और मानव के नैतिक-पतन के पथ पर दूर तक यात्रा कर चुकने के पश्चात् वह सिंहवाहिनी की भाँति अग्रसर हुई। पिता ने उसे 'मुक्ति-सेना-दल' का कप्तान बना दिया। एक अवसर पर भाषण देते हुए एक पुलिसमैन ने उसे पकड़ना चाहा, लेकिन उसके अंगरक्षक ने उसे इतनी ज़ोर से ज़मीन पर पटका कि वह वेहोश होकर गिर पड़ा। इवा ने उसकी जान बचाई, अस्पताल में उसकी परिचर्या की और उसे अपने सिद्धान्तों का क़ायल बना लिया। जब तक वह जीवित रहा उसका कृतज्ञ बना रहा।

इवा की साहसी, उदार और ओजस्वी वाणी से अंधकार में डूबी हुई जाति के भीतर एक नूतन जागृति उत्पन्न हो रही थी। वह अपनी सेना को समुद्री इलाके टॉरक्वे की ओर लेगई, किन्तु वहाँ भी जनता ने चैन न लेने दी। सरकारी कानूनी कार्रवाइयाँ आरम्भ

हो गई। अपने केस को इवा पार्लियामेण्ट तक ले गई और भाषण का अधिकार प्राप्त कर लिया।

इवा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कभी श्रांत अथवा हतप्रभ होना न जानती थी। उसका साहस असाधारण था। यौवन और आवेग की मस्ती लिए वह अपने चिर-अभ्यस्त हास्य की ज्योत्स्ना छिटकाकर दुर्भाग्य की कुहु-निशा के दारुण अन्धकार को विच्छिन्न कर देना चाहती थी। जहाँ-जहाँ वह गई, उसने कमज़ोर और डगमगाते चरणों को अभिनव बल प्रदान किया और प्रत्येक साधारण दृष्टि वाले व्यक्ति को असाधारण स्तर पर लाने का प्रयास किया।

उसका सरल, तरल, सजीव स्नेह और कोमल हृदय भूखे, नंगे, निराश्रय व्यक्ति को देखकर करुणा से द्रवीभूत हो उठता था। जिन्हें सदैव भर्त्सनाओं का शिकार बनना पड़ता था, जो निराश और आपद्-ग्रस्त थे, उनके लिए उसके हृदय में दर्द और मोहब्बत का जोश भरा था। एक दिन वह कोयले की खान के दफ़्तर में गई और कहने लगी, "मुझे नीचे उतार दो। मैं मज़दूरों से बातें करूँगी।" सुपरिण्टेण्डेण्ट आश्चर्य में भर गया, "श्रीमती जी! आप ऐसा न करें। इसमें तो साहसी लोग तक उतरते क़तराते हैं।" किन्तु इवा न मानी। उन्हें एक टोकरी में बैठाकर नीचे उतारा गया। बीच में ही रस्सी टूट गई और वह मरते-मरते बची।

जब इवा तेईस वर्ष की हुई तो उन्हें तमाम सेना का कमाण्डर नियुक्त कर दिया गया। अब अंग्रेज़ लोग मुक्ति-दल के सैनिकों के प्रति अपने मन की संकीर्णता मिटा चुके थे। धीरे-धीरे उन्होंने इस सत्य को पहचान लिया था कि उनके देश की पार्लियामेंट भूखों, नंगों की समस्या को केवल वाद-विवाद के बेतुके स्वर में ही भूल जाना चाहती है, जब कि मुक्ति-सैन्य-दल के तीस लाख सिपाही सच्ची साधना को अपनाकर मानव-समाज के दुःख-दर्द और हीन जीवन-स्तर को उठाने में प्रयत्नशील हैं। उन्होंने मिस्टर बूथ और इवा को प्रोत्साहन दिया और रुपये की वर्षा-सी होने लगी।

इसी बीच 'मुक्ति-सेना-दल' ने इवा के तत्त्वावधान में कनाडा की ओर प्रस्थान किया। सन् १८९८ में क्लोण्डाइक में सोने की खानों

की खोज में अमरीकियों को पर्याप्त श्रम करना पड़ा था। इवा ने उनकी सहायता करने के उद्देश्य से नर्सिंग-पलटन बना कर उधर के लिये रवाना कर दी और स्वयं न्यूफाउण्डलैण्ड में मल्लाहों की सुख-सुविधा की व्यवस्था करने के लिए चली गईं। आरमीनिया की क्रूरताओं और दुर्व्यवहार से तङ्ग आकर वहाँ के विस्थापित व्यक्ति जब टॉरेण्टों में आकर बस गए तो इवा ने उनका मुक्त-हृदय से स्वागत किया।

सन् १६०४ में उन्होंने कनाडा की सीमा पार करके यूनाइटेड-स्टेट्स में प्रवेश किया। जिन लोगों की सहायता करने की गरज़ से वे आई थीं उन्होंने उनकी सेवाएँ कबूल करने से इन्कार कर दिया। कूपर-यूनियन में जब वे भाषण देने घुसीं तो एक बड़ी भीड़ ने उन्हें प्रमुख द्वार पर ही रोक लिया, किन्तु उन्होंने किसी प्रकार भी हार न मानी और अन्ततः उन्हें सफलता मिली। उन्होंने लिखा है, "अमेरिका की किसी गन्दी गली को निरीक्षण करने निकलो तो मनुष्य की विवशता, हीन मनोवृत्ति और दारुण परिस्थितियाँ नेत्रों के सम्मुख बिछ जाती हैं।"

और उन्होंने सोचा कि वर्षों से जमा हुआ यह मैल एक दिन में साफ़ नहीं हो सकता। इसके लिए परिश्रम करना होगा, कष्ट सहने होंगे और बहुत-सी कुर्बानियाँ करनी पड़ेंगी। प्रेम और विश्वास की शक्ति जगा कर उन्होंने लोगों के संकुचित दृष्टिकोणों को उदार और ग्राह्य बनाने की चेष्टा की। उन्होंने कैदियों के लिए 'ब्राइटर डे लीग' (Brighter-Day-League), अविवाहित माताओं के लिए 'आउट आफ-लव-लीग' (Out of Love League) और आत्महत्याकारियों के लिए 'सूसाइड-ब्यूरो' (Suicide-Bureau) कायम किया। यद्यपि इन आश्रय-संस्थाओं के नाम और काम बड़े विचित्र थे, तथापि हज़ारों अमरीकियों ने उनका साथ दिया और 'मुक्ति-सैन्य-दल' की दिन-दिन अभिवृद्धि होती गई। 'मुक्ति-सेना-दल' के बड़े-बड़े अफसर प्रति सप्ताह तीस डालर पाते थे और प्रत्येक सैनिक के लिए यह नियम था कि वह सिगरेट, शराब अथवा अन्य आमोद-प्रमोद में भाग नहीं ले सकता था। इवा बूथ कहा करती थीं, "यह संसार ऐसे लोगों से भरा पड़ा है, जो अपने सिद्धान्तों की व्याख्या तो करते हैं, किन्तु उन्हें

कार्य रूप में परिणत नहीं करते । हमारा विशेष कर्त्तव्य है कि हम जीवन की अनियंत्रित शक्तियों से होड़ लें। वनस्पति-विज्ञान-वेत्ता भले ही अणुवीक्षण यन्त्र से काँटेदार घास का निरीक्षण करें, हमें तो उनके काँटे पकड़ कर उखाड़ फेंकना ही होगा।"

'मुक्ति-सैन्य-दल' का महत्त्व बताते हुए एक स्थल पर उन्होंने लिखा, "लोग घोड़े, पशु और कुत्तों के रखने में हज़ारों रुपया व्यय करते हैं, फिर मुक्ति-सैन्य-दल तो भटकी मानवात्माओं को नियन्त्रित करता है। मनुष्य स्वतन्त्र है। उसकी शक्ति असामान्य है, मुक्ति-सेना पार्थिव भोगों के अभाव में धैर्य धारण करना सिखाती है।"

जब सन् १९१७ में अमेरिका भी महायुद्ध में सम्मिलित हो गया तो इवा बूथ ने घूम-घूम कर ऐसी माताओं, बहिनों और पत्नियों को सान्त्वना दी, जिनके एक-मात्र संरक्षक युद्ध में गये थे। युद्ध समाप्त हो गया, किन्तु उनका कार्य समाप्त न हुआ था। नारी में जब परोपकार की आकांक्षा जगती है तो वह शीघ्र नष्ट नहीं होती। भारत में अकाल पड़ा और उन्होंने 'रिलीफ पार्टी' मदद के लिए भेजी। जापान में भूकम्प आया और वे पुनः उनके कष्ट-निवारण में सहायक हुई। उन्होंने इङ्गलैंड, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, फ्रांस आदि देशों में भ्रमण करके मुक्ति-सैन्य-दल की विभिन्न शाखाओं का निरीक्षण किया।

उनकी अवस्था दिन-दिन ढल रही थी और अब वे साठ वर्ष की हो चुकी थीं, किन्तु उनका उत्साह शिथिल न हुआ था। प्रत्येक सुबह अपने घोड़े पर चढ़ कर वे बहुत दूर तक सैर करने निकल जाती थीं। एक बार पाँव में गहरा जख्म हो जाने पर भी वे चार मील तक बराबर तैरती रही थीं। बचपन से ही अत्यन्त साहसी होते हुए भी उनका हृदय कोमल और संवेदना से भरा था। जब वे बिल्कुल अबोध थीं तो अपने प्रिय कुत्ते नेल्सन की मृत्यु पर कई दिन तक बराबर रोती रही थीं। एक बार खेल-खेल में उन्होंने अपनी गुड़िया को इन्जेक्शन दिया और जब कपड़ा फटने से बाहर बूर निकल आया तो वे फूट-फूट कर रोने लगीं। उनके बड़े भाई ने चिढ़ाते हुए कहा, "क्या तू समझती थी कि बिना खून निकले ही इन्जेक्शन लग जाता है।"

इवेंजलीन बूथ को कविता लिखने का भी शौक था। कभी-कभी निर्जन रात्रि की शून्यता में 'मुक्ति-सैन्य-दल' के मनोरंजन के लिए वे कविता लिखा करती थीं।

अत्यधिक कार्य-व्यस्तता से श्रांत और बुढ़ापे से लाचार उन्होंने सन् १९३९ में 'मुक्ति-सैन्य-दल' के नेतृत्व से इस्तीफा दे दिया। उनके जीवन की साधना पूर्ण हो चुकी थी और अब कोई आकांक्षा शेष न थी। आजकल वे न्यूयॉर्क में एकांत, शांत जीवन व्यतीत कर रही हैं। निष्क्रिय रह कर भी उनका कर्म में दृढ़ विश्वास है। युद्ध से वे कभी नहीं घबरातीं, केवल उसका उद्देश्य भिन्न होना चाहिए। उन्हींके शब्दों में—

"मनुष्य में संघर्ष-शक्ति का ह्रास न होना चाहिए, हाँ—वह अपने असली शत्रुओं पर प्रहार करे, औरों पर नहीं। मनुष्य को सदैव गतिमान और उत्प्रेरित करते रहना चाहिये, कभी न कभी ऐसा दिन अवश्य आएगा जबकि उसकी सैनिक-प्रवृत्ति हज़ार गुना बढ़ जाएगी।"

लेडी माउण्टबेटन

जन्म तिथि : १८ नवम्बर, १९०१
जन्म स्थान : लंदन (इंगलैण्ड)

लेडी माउण्टबेटन

सन् १९४४ के अक्तूबर मास में एक दिन सन्ध्या समय एक छोटा हवाई डकोटा टूटा-फूटा, जीर्ण-शीर्ण अवस्था में ब्रूसल्स के मैदान में उतरा, जिसमें से 'सेन्ट-जॉन-एम्बूलेंस-ब्रिगेड' की सुपरिंटेंडेंट-इन-चीफ़ लेडी लुई माउण्टबेटन अपने दो साथियों के साथ हँसती हुई नीचे उतरीं। हालैण्ड के अस्पतालों का निरीक्षण करते हुए यद्यपि वे हवाई-दुर्घटना का शिकार होगई थीं, तथापि उनके मुख पर थकावट अथवा परेशानी के चिह्न न थे। सदैव की भाँति एक स्निग्ध मुस्कराहट उनके ओठों पर बिखरी थी, जो उनके सौन्दर्य को द्विगुणित कर रही थी।

विवाह से पूर्व लेडी माउण्टबेटन का जीवन अधिकतर अपने सम्पन्न नाना के यहाँ ब्रूक भवन में ही व्यतीत हुआ था। बालिका

एडविना ऐशले स्वभाव से ही चंचल और मस्त प्रकृति की थी। उसके मन के सरल सत्य के साथ दुनिया के दाँव-पेंच, आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन और जटिल रूढ़ियों का सामंजस्य न हो पाता था। उसकी मधुर हँसी और बाल-क्रीड़ाएँ घर के वातावरण को हर्षोन्माद से भर देती थीं। ज्यों-ज्यों वह बड़ी हुई उसका सुन्दर, चपल, सुप्रसन्न और यौवन की मादकता से पूर्ण अल्हड़पन तारुण्य की गरिमा में परिणत होता गया। एक दिन लुई माउण्टबेटन से उसका साक्षात्कार हुआ। तभी से न जाने उसके मन में कैसा-कैसा अनुभव होने लगा। उसकी अल्हड़ मस्ती में एकाकीपन का भाव और दारुण विषण्णता जगी। जो साँझ पहले हर्ष की अरुणिमा बिखेरती आती थी वह अब किसी दूरन्त क्षितिज की उदासी और शून्यता लिए दीख पड़ती। शनैः-शनैः उसे जान पड़ा कि किसी ने उसके मन की समस्त खुशी छीन ली है। उत्तरोत्तर दोनों में आकर्षण बढ़ता गया, किन्तु इस प्रणय-व्यापार में अनेकों अड़चनें मुँह बाए खड़ी थीं। लुई माउण्टबेटन के माता-पिता अपने पुत्र का किसी राज-परिवार से सम्बन्ध होने का स्वप्न देख रहे थे।

उधर लुई को प्रिंस ऑफ् वेल्स के साथ भारत आना पड़ा। एडविना को एक दिन के लिए भी प्रिय-वियोग सह्य न था। वह भी उसके साथ भारत आई और दोनों ने यहीं सर्व प्रथम परिणय-सूत्र में बँध जाने की घोषणा की। भारत से लौटने पर दोनों को पुनः विरोध और अप्रसन्नता का सामना करना पड़ा। लुई की माँ किसी प्रकार भी इस सम्बन्ध को स्वीकार न करती थी, किन्तु धीरे-धीरे विरोध कम हुआ और स्थिति अनुकूल होती गई। सन् १९२२ में दोनों का विवाह वेस्ट-मिनिस्टर में सम्पन्न होगया।

विवाह के पश्चात् लुई दम्पति ब्रूक-भवन में आ बसे। यों यहाँ रास-रंग, आमोद-प्रमोद और हँसी-खुशी की कुछ भी कमी न थी, तथापि लुई माउण्टबेटन यौवनोन्माद और नव-वधू के चाव में अपने विभिन्न कार्यक्रम और कर्त्तव्यों को न भूलते थे। कुछ समय बाद ही उन्हें माल्टा जाने का आदेश हुआ। लेडी लुई भी पति के ... गई और उनके कार्यों को बहुत कुछ हल्का बनाया। ब्रूक-भवन

की अल्हड़, चपल किशोरी वैवाहिक-दायित्व की गुरुता पाकर गंभीर और जागरूक नारी बन गई थी।

महायुद्ध आरम्भ हुआ। लुई माउण्टवेटन जीवन का मोह छोड़ एक कर्मठ योद्धा की भाँति रण-क्षेत्र में उतर पड़े। पति के साथ-साथ तब से ये भी ब्रिटेन की सबसे व्यस्त और परिश्रमशील महिला हो गई। उन्हीं दिनों 'सेण्ट-जॉन-एम्बुलेंस-ब्रिगेड' की ओर इनका ध्यान आकृष्ट हुआ, जो भारत में 'सेण्ट जॉन एसोसिएशन' के नाम से प्रसिद्ध है और जिसमें ३५००० कार्यकर्त्ता और २८००० सहायक-सदस्य तथा प्रत्येक देश एवं जाति के लोग सम्मिलित हैं। एम्बुलेंस और नर्सिङ्ग कार्यकर्त्ताओं को संगठित करने में लेडी माउण्टवेटन ने अद्वितीय कार्य-क्षमता और संयम का परिचय दिया है। लंदन में जब भीषण गोलाबारी हो रही थी तब ये ब्रिटिश इम्पायर (सिविल डिविजन) की कमाण्डर बना दी गई। सन् १९२४ में ये 'सेण्ट-जॉन-एम्बुलेंस-ब्रिगेड' की सुपरिण्टेण्डेण्ट-इन-चीफ नियुक्त हुई और उनके सामने बहुत से काम फैल गए। बहिर्देशीय और ब्रिटेन की प्रत्येक यूनिट से उन्होंने अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया और जनवरी, सन् १९४५ में उन्होंने सैंकड़ों अस्पतालों का निरीक्षण किया। लॉर्ड माउण्टवेटन तो दक्षिणी-पूर्वी एशिया में सुप्रीम कमाण्डर के पद पर नियुक्त होकर चले गए और ये अपने विभिन्न दायित्वपूर्ण कार्यों को सँभालने के लिए ब्रिटेन में ही रह गई।

उसी वर्ष इन्होंने फ्रांस, बेल्जियम, हॉलैण्ड, जर्मनी आदि यूरोप के बड़े-बड़े देशों का दौरा किया, जहाँ विभिन्न अस्पतालों की यूनिटें ज़ोरों से काम कर रही थीं। वहाँ के अस्पतालों में ये घूम-घूम कर घायलों से मिलतीं और उनका दिल बहलाने के लिए उनके अपने पारिवारिक और घरेलू समाचार बतलाती थीं। यही नहीं, वरन् इन्होंने अस्पतालों की व्यवस्था, सफ़ाई, रोगियों को अधिक से अधिक आराम मिलने की सुविधाएँ, दवाइयाँ, औज़ार और अन्य सामान का भी निरीक्षण किया। कई बार इन्हें हवाई जहाज़ों से उड़कर या बेआरामी से कार में मीलों सफ़र करके एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना पड़ता था, जिससे कभी-कभी इनके स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव

होता था। सन् १९४५ में इन्होंने दक्षिणी-पूर्वी एशिया में चार महीने तक बराबर यात्रा करके वहाँ के अस्पतालों और मेडीकल-इन्स्टीट्यूटों का मुआयना किया। लॉर्ड माउण्टबेटन के सैनिक-कमांड के भारतीय सिपाही इनके धैर्य और साहस पर मुग्ध हो जाते थे। बड़े-बड़े भयानक, कष्टप्रद घावों को ये बिना विचलित हुए देखती और अपने सुझाव पेश करती थीं।

जब सिंगापुर और सुदूर-पूर्वी भागों से जापानी फौजें हटा दी गईं तो ये ब्रिटेन से पुनर्व्यवस्था और शान्ति स्थापित करने के लिए आईं। आहत सैनिकों और कैदियों की संख्या बहुत अधिक थी, और उसमें से कोई-कोई इतने क्षीण और असमर्थ थे कि उनसे हाथ-पैर तक न हिलाए जा सकते थे।

वे जीप कार में एक कैम्प से दूसरे कैम्प में अपने प्राइवेट सेक्रेटरी और लॉर्ड लुई के स्टॉफ के कुछ अफसरों के साथ घूमती फिरती थीं। दूसरों के दुःख में हाथ बँटाने वाली ऐसी दया की मूर्ति उन लोगों ने वर्षों से न देखी थी। मुसीबत के मारे, पीड़ाग्रस्त व्यक्ति उनकी जीप कार को चारों ओर से घेर लेते थे और घर के समाचार जानने के लिये आकुल होकर प्रश्न करते थे। स्याम में भयंकर मृत्यु की रेल-गाड़ी में जो आस्ट्रेलियन कार्य-कर्त्ता कार्य कर रहे थे वे बहुत दयनीय अवस्था में थे। "किन्तु," लेडी माउण्टबेटन ने लिखा है, "जब मैं सन् १९४६ में वहाँ का निरीक्षण करने गई तो अनेक आस्ट्रेलियन अच्छी स्थिति में थे और उनके शरीर का वज़न भी बढ़ गया था।"

उन दिनों लॉर्ड और लेडी माउण्टबेटन को बुलाने के लिये हज़ारों आमन्त्रण-पत्र प्रतिदिन आते थे। कोई-कोई उनसे अपने परिवार के सदस्य अथवा नव-विवाहिता पत्नी, जिन्हें कि वे छोड़कर आए थे, देख आने के लिये आग्रहपूर्वक अनुरोध करते थे। काम की भीड़ और अत्यधिक व्यस्तता में कभी-कभी प्रोग्राम ऐसा उलट-पुलट जाता था कि ये तो सड़कों को खूँदती हुई अत्यन्त कठिनाई से किसी फॉर्म या ग्राम में पहुँचती थीं और इधर हज़ारों सैनिकों और कैदियों की भीड़ अपने परिवार और रुग्ण स्त्री-बालकों को लेकर उनके

दर्शनार्थ एकत्रित हो जाती थी और उनके न मिलने से निराश होक
लौट जाती थी। इस प्रकार कभी बाहर कभी ब्रिटेन में ये प्रायः अस्प
तालों में रोगियों और आहतों को देखा करती थीं। एक बार लन्दन
में जब ये एक अस्पताल का निरीक्षण करने गईं तो इन्हें एक वार्ड में
स्यामी-कैदी-कैम्प के तीस सैनिकों को देख कर जिनसे कि ये स्याम
में पहले भी मिल चुकी थीं, बड़ा ही ताज्जुब हुआ। इन्होंने लेडी
माउण्टबेटन का इस तरह स्वागत किया मानों वे वर्षों से बिछुड़ी हुई
उनकी माँ या बहन हों।

कहना न होगा कि विगत कुछ वर्षों में भारत से भी इनका
कुछ ऐसा सम्बन्ध-सूत्र जुड़ गया है कि उसके सहज मोह को ये भुला
नहीं सकती हैं और न भारत ही इनकी कृपाओं को विस्मृत कर सकता
है। जब यहाँ हिन्दू-मुस्लिम दंगों की विभीषिका फैली थी तो माउण्ट-
बेटन-दम्पति ने दिन को दिन और रात को रात न समझ कर शान्ति
स्थापित करने में कुछ उठा न रक्खा था और सदियों से गुलाम
भारत को आज़ादी देकर अपने कर्त्तव्य-कर्म को निभाया था। जब तक
ये भारत में रहीं तब तक इन्होंने यहाँ की मेडिकल और नर्सिङ्ग प्रणाली
को उन्नत करने का प्रयास किया। यहाँ तक कि इन्होंने भारतीय
रोगियों से बातें करने, उनकी दुःख-सुख की गाथा सुनने और उनमें
घुल-मिल जाने के लिए अपनी पुत्री पेमिला के साथ हिन्दुस्तानी भाषा
बोलने का अभ्यास किया। इन्होंने लिखा है, "मेरे पति की नियुक्ति
पर चारों ओर से आए खुशी के पत्रों में भारत से भेजे गये मेरे मित्रों
के पत्रों की सरलता और प्रकृत-स्नेह ने मेरे हृदय के तारों को झंकृत
कर दिया।"

जब भारत-पाकिस्तान विभाजन हुआ और शरणार्थी समस्या
उग्र रूप धारण कर गई तो इन्होंने रात-दिन परिश्रम करके असहाय,
दुःखी और निराश्रित लोगों के कष्ट-निवारण की चेष्टा की। भारत-भर
में शरणार्थियों के लिए कैम्प खोले गए और लेडी माउण्टबेटन ने घूम-
घूम कर उनकी आवश्यकताओं को जानने, समझने और पूरा करने
की कोशिश की।

अब भी इङ्गलैंड में रह कर वे भारत को भूल नहीं पाई हैं। यहाँ का मोह इन्हें यदा-कदा भारत खींच लाता है। अभी हाल में ही वे भारत आई थीं और प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू की अतिथि होकर रही थीं।

ख़ालिदा अदीब ख़ानम
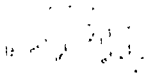
जन्म तिथि : सन् १८८५
जन्म स्थान : इस्तांबुल (टर्की)

खालिदा अदीब खानम

खालिदा अदीब खानम टर्की की वह जाज्वल्यमान तारिका है जो मानवीय-सभ्यता के उन्नति-पथ को प्रशस्त करने के लिए कुत्सित भावनाओं, परम्परागत रूढ़ियों और अंध-विश्वासों से समाच्छन्न जीवन-गगन को द्योतित करने का सदैव स्वप्न देखती रही है। तत्कालीन सामाजिक-दुरवस्था और प्रतिकूल परिस्थितियों ने इस सुकोमल नारी-हृदय में जो क्रान्ति की चिनगारियाँ छिटका दी थीं उनसे नैराश्य-तिमिर में भटकते मानव को ऐक्य-सूत्र में आबद्ध होने और समस्त प्रतिरोधों को कुचलने की महान् प्रेरणा प्राप्त हुई। एक समृद्ध घराने में जन्म लेकर भी उन्होंने इस सत्य को बहुत शीघ्र ही हृदयंगम कर लिया था कि जो व्यक्ति जितना ही जीवन-शक्ति से अनुप्राणित होगा वह उतना ही ऊपर उठ सकेगा।

उनका देश टर्की उस समय आचार-भ्रष्ट नेतृत्व, शताब्दियों के मिथ्या मोह-जाल और कलुषित लालसाओं में फँस कर देशी-विदेशी स्वार्थों का शिकार और शोषण, उत्पीड़न एवं लड़ाई-झगड़ों का अखाड़ा बनता जा रहा था। कुछ पूञ्जीपतियों और उच्च पदाधिकारियों को छोड़ कर सर्वसाधारण का जीवन संत्रस्त और परेशान था। स्वतंत्रता नाम की कोई वस्तु न रह गई थी। सामंती सरदार लूट-खसोट कर रहे थे और शासक-वर्ग पाश्चात्य-शक्तियों का गुलाम हो रहा था। कभी रूस, कभी यूनान और कभी कोई दूसरा देश उस पर अपनी गिद्ध-दृष्टि लगाए रहते थे। ख़लीफ़ा देश की रक्षा करने में समर्थ न था और जनता प्रायः उदासीन रहती थी।

ख़ालिदा घर के एकान्त, शून्य कक्ष में बैठी सोचा करतीं मानव अकर्मण्य हो कर जीवित नहीं रह सकता। जिस सामाजिक व्यवस्था में मनुष्य की अच्छाइयों की कीमत न हो, जहाँ जनता का जीवन परतन्त्र और पशुओं से भी बदतर हो, वहाँ आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। दीन और कातर हो कर पूञ्जीपतियों की सत्ता का मूलोच्छेद नहीं किया जा सकता, वरन् नूतन शक्तियों से युक्त और अद्भुत कर्मोन्मादना से प्रेरित हो कर ही दुर्दम्य शक्तियों को कुचला जा सकता है। ख़ालिदा ने सर्वप्रथम एक क्रान्तिकारी लेखिका के रूप में अपने विचारों को जनता के सम्मुख रखा। वे अपने दुःखी, असहाय देश-वासियों के हृदय के नैराश्य और वेदना को मिटाने के लिए कटिबद्ध हो गईं। उन्होंने लिखा, "केवल आदर्शों का नाम बदल देना, जो कि अक्सर नेताओं के हाथ में राजनीति का खेल बन जाता है, काफ़ी नहीं। हमें तो इस मानवीय खेल के पूरे नियम ही बदलने हैं।"

ख़ालिदा की लेखनी में बल था। उन्होंने अपने लेखों से लोगों को सुप्त चेतना को जागृत किया और उनकी निर्भीक ललकार से उनके प्राणों में बग़ावत का तूफ़ान बज उठा। पूञ्जीवाद के घृणित कुचक्र, जनता के जीवन-रस को सुखा देने वाले समस्त साधन, जिन्होंने मानवीय-सभ्यता की प्रगति को अवरुद्ध कर दिया था तथा तत्कालीन शासन-व्यवस्था के अन्तरतम में जो विरूपता और जघन्यता छिपी थी

उसका ख़ालिदा ने पर्दाफ़ाश किया और जनता को बताया कि वह अपनी बौद्धिक शक्तियों को जगा कर अत्याचार और अनाचार शोषण और उत्पीड़न को जड़मूल से मिटा सकती हैं। अमेरिका और लन्दन के कॉलेजों में शिक्षा प्राप्त करके उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता का बहुत निकट से अध्ययन किया था। सामंतों और साधारण लोगों में जो सीमा-रेखा खिंची थी तथा पूँजीवादी-व्यवस्था ने व्यक्ति को जो बुद्धिवाद दिया था उसकी जड़ें ख़ालिदा ने अपने देश की भूमि में भी दूर तक जमी हुई पाईं। उन्होंने रूढ़िवाद को छोड़ कर नये विचार अपनाए और प्राचीन मुस्लिम-संस्कृति और पाश्चात्य-सभ्यता को एक नवीन राजनीतिक-चेतना के स्तर तक पहुँचाने का प्रयास किया। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है, "मैं तो इस निश्चय पर पहुँची हूँ कि अंतर्राष्ट्रीयता के मामले में आने वाली पीढ़ियों को मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम तथा सभी देशों में उच्च प्रकार की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्ष करना चाहिए तथा इसी उद्देश्य से संसार के सब लोगों में अधिकतम समानता और समन्वय लाने का प्रयत्न करना चाहिए। ये मूल परिस्थितियाँ ही इस धरती पर के मानवीय-जीवन को सम्भव और स्थायी बना सकती हैं।"

ख़ालिदा की ओजस्वी लेखनी ने उनका परिचय-क्षेत्र विस्तृत कर दिया। सहस्रों व्यक्ति उनके अनुयायी हो गए, यहाँ तक कि शासकों की क्रूर दृष्टि उन पर गई और सन् १६०६ में उन्हें अपनी प्राण-रक्षा के लिए बाध्य हो कर मिश्र चला जाना पड़ा। किन्तु वहाँ भी अधिक दिन वे शान्ति से न रह सकीं। वे फिर अपने देश चली आईं और उपन्यास लिखने में व्यस्त हो गईं। अपने 'सेवी तालिब' उपन्यास में उन्होंने सामाजिक-कुरीतियों और परम्परागत अन्ध-विश्वासों पर निर्मम प्रहार किया है। उन्होंने शिक्षा की समस्या और स्त्री-सुधार-आंदोलन में भी सक्रिय भाग लिया। उनकी 'नया तुराँ और 'भग्न-मन्दिर' कृतियाँ अत्यंत प्रसिद्ध हैं।

जब टर्की बाल्कन-युद्ध में फँसा हुआ पीड़ा से कराह रहा था और कुस्तुन्तुनिया पर आक्रमण होने की पूर्ण सम्भावना थी तो ख़ालिदा ने अपने जोशीले भाषणों से जनता को उकसा कर सहायता

की भीख माँगी और रात-दिन कठोर परिश्रम करके स्त्रियों के एक दल की स्थापना की, जो घायलों की सेवा-शुश्रूषा और मरहम-पट्टी करता था। उन दिनों ये 'नेशनल न्यूज़ एजेंसी' की संस्थापिका थीं। इसके अतिरिक्त ये सैनिक वर्दी में घूम-घूम कर टर्की के फौजी हैडक्वार्टरों का निरीक्षण भी करती थीं।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर मित्र-राष्ट्रों द्वारा टर्की में जो अनाचार और अत्याचार हुए उसने टर्की-निवासियों में प्रति-क्रिया जागृत कर दी और कमाल अतातुर्क़ ने टर्की को सुदृढ़ और सुसंगठित करने के लिये राष्ट्रीय-आन्दोलन चलाया। यह वैसा ही आन्दोलन था जैसा इटली की एकता के लिए मैज़िनी और गैरीवाल्डी ने चलाया था। ख़ालिदा अदीब इस क्रान्तिकारी-दल में सम्मिलित हो गईं। उस समय साथी राष्ट्रों की योजना युद्ध की लूट के रूप में टर्की का विभाजन करके उसे अपने चंगुल में कर लेने की थी। शासकों ने घुटने टेकना मंजूर कर लिया था, लेकिन जनता इसका विरोध कर रही थी। ख़ालिदा और कमाल पाशा के नेतृत्व में क्रान्ति-सेना अनातोलिया के रण-क्षेत्र में कूद पड़ी और पर्वतीय-प्रदेश के बेपढ़े किसानों और साधारण जनता की वीरता, बलिदान और स्वातन्त्र्य-भावना ने अपने देश की खोई आज़ादी को पुनः प्राप्त कर लिया। ख़ालिदा ने अशिक्षित कृषकों और मामूली सिपाहियों के साथ कंधे से कंधा मिला कर ऊबड़-खाबड़, खन्दक-खाई और भयंकर से भयंकर युद्ध के मोर्चों पर बन्दूक लेकर शत्रुओं का सामना किया।

जब यह स्वतन्त्रता की लड़ाई समाप्त हो गई और टर्की आज़ाद हो गया तो ख़ालिदा और कमाल अतातुर्क़ में मतभेद हो गया। अतातुर्क़ ने जो तानाशाही स्थापित की थी ख़ालिदा उसे पसन्द नहीं करती थीं। वे सच्चा लोकतन्त्र स्थापित करने के पक्ष में थीं। इस प्रकार एक ओर अतातुर्क़ और इस्मत यानानो का एक दल बन गया और दूसरी ओर ख़ालिदा तथा सेनापति रिफ़अत विरोधी-दल के नेता हो गए। चूंकि राजसत्ता अतातुर्क़ के हाथ में थी अतः इन दोनों नेताओं को प्राण-रक्षा के लिए अपना देश छोड़ देना पड़ा। ख़ालिदा अतातुर्क़ के

राज्य-काल में निर्वासित रहीं और उसके बाद भी आठ-दस वर्ष देश से बाहर बिताए।

ख़ालिदा अदीब के जीवन का महत्त्वपूर्ण पहलू है कि वे उच्च कोटि की विचारक और लेखिका हैं। उनकी कलम का लोहा बड़े-बड़े धुरन्धर लेखकों ने माना है। अपने निर्वासन-काल में वे इङ्गलैंड अमेरिका और अन्य देशों में घूम-फिर कर जीवन बिताती रहीं विश्व के लगभग सभी प्रमुख देशों की यूनिवर्सिटियों ने उन्हें अपने यहाँ भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया। विश्व-साहित्य, राजनीति और इतिहास का उनका गहरा अध्ययन था।

सन् १६१२ में क्रीमिया के युद्ध में घायल तुर्की-सैनिकों की मरहम-पट्टी के लिए कांग्रेस-नेता स्वर्गीय डॉक्टर अंसारी जब एक मैडिकल-मिशन लेकर टर्की गए थे तो वहाँ उनकी ख़ालिदा से भेंट हुई। उन्हें जामिया मिलिया, दिल्ली में भाषणों के लिए आमन्त्रित किया गया और सन् १६३५ में वे भारत आईं। उन्होंने जामिया मिलिया और भारत की प्रमुख शिक्षा-संस्थाओं में जो भाषण दिए थे वे 'पूर्व और पश्चिम के संघर्ष' (Conflict between East and West) नामक पुस्तक में संगृहीत हैं, जिसमें उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी देशों की सभ्यता के विकास और वर्तमान समस्याओं पर प्रकाश डाला है। उनका एक और ऐसा ही 'इनसाइड एशिया' (Inside Asia) भाषण-संग्रह है, जिसके अध्ययन से पता चलता है कि भारत के बारे में उनका ज्ञान कितना सच्चा और गहरा है। उन्होंने हिन्दू-धर्म, परवर्त्ती भारतीय-संस्कृति पर मुस्लिम और अंग्रेज़ी सभ्यता का प्रभाव, कांग्रेस का राजनीतिक-आंदोलन और यहाँ के नेताओं का जो विश्लेषण किया है उसे कोई भी विचारशील भारतीय अस्वीकार नहीं कर सकता। उन्होंने भारत को मिस मेयो की आँख से नहीं, वरन् एक सच्चे हितैषी और मित्र की दृष्टि से देखा। 'इनसाइड एशिया' की भूमिका में वे लिखती हैं—

"मैं अनुभव करती हूँ कि अपने देश को छोड़ कर अन्य सभी देशों की अपेक्षा हिन्दुस्तान मेरे अध्यात्म-प्रदेश के निकटतर है। इसका कारण यह नहीं कि मैं मुसलमान हूँ और हिन्दुस्तान में मुसलमान

बसते हैं, वरन् हिन्दू मित्रों में भी जिन्होंने कृपापूर्वक मुझे अपना अतिथि बनाया और जिनका रहन-सहन मेरे रहन-सहन से भिन्न है—वहाँ मैंने यह महसूस किया कि मानो मैं अपने घर में ही हूँ।"

भारतीय नारियों के सम्बन्ध में वे लिखती हैं—

"आगरे के मार्ग में हमें देहातियों की टोलियाँ आती-जाती मिलीं। चाँदनी फैली थी, हम 'ताज' देखने जा रहे थे। भारतीय स्त्रियाँ, चाहें किसान औरतें हों या रानी, उनमें सुकोमलता नज़र आ रही थी, जो किसी पुराने बर्त्तन पर अंकित चित्रों में होती है। यहाँ के देहात प्रायः मिट्टी के झोंपड़ों और मलिन, बेढंगे मुहल्लों का समूह होता है। यह हमारे देहात से बहुत भिन्न नहीं। पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा कम तन्दुरुस्त हैं। वे गलियों में तख्ते बिछाये हुए, जिन्हें कि ज़मीन से कुछ ऊंचा कर लिया जाता है, बैठे रहते हैं। औरतें अधिक मज़बूत जान पड़ती हैं। दरिद्रता, भूख और प्रसूति के कष्टों को जो हँसते-हँसते झेल जाए—इससे कदाचित् वे असाधारण शक्ति रखती हैं।"

इधर चन्द वर्षों से ही ख़ालिदा को अपने देश टर्की लौट आने की आज्ञा मिली है। यद्यपि आजकल वे किसी राजनीतिक-दल की अनुयायी नहीं हैं तथापि उनके भीतर की क्रान्ति-चेतना अभी बुझी नहीं है और आज भी अपने भीतर वे उन सपनों को सँजोए हैं, जो मानवता को सशक्त और जागरूक रहने की प्रेरणा देते हैं।